卐

स्वरूप कीर्तन

हूँ शुद्ध स्वरूपी आतमराम।
विमलाचल शाश्वत सुख धाम॥

नहिं फल दाता ईश्वर आन। निर्ममत्व निर्मोही ज्ञान।
दास बुद्धि करती हैरान॥ पर भावों से भिन्न भगवान॥
बना भिखारी निपट अजान। चिदानन्द चेतन रसपान।
स्वतंत्र नीज स्वरूप पिछान॥ १ स्वानुभव कर स्वाद पिछान॥

परस्पर निमित्त परिणाम। द्रव्य दृष्टि से हम भगवान।
पर कर्ता नहि गुण, परिणाम॥ भाव द्रव्य वितराग महान॥
फिर धरो अभिमान क्यों राम। अन्त मुहूर्त अन्तर पिछान।
ज्ञायक भाव करो विश्राम॥ २ राग नाश होते ही समान॥

अणु मात्र मूर्छा परभाव। निज परणति जब सरूप समाय
घातक मम वितराग स्वभाव॥ नहीं निमित्त व्यवहार दिखाय
दूर हटो वर्णादि विभाव। नय-निक्षेप भंग, मिट जाय।
निर्विकल्प वसु चिद्स्वभाव॥ ३ मोक्ष हेतु 'चुनि' भेद उपाय॥

श्री वीतरागाय नमः

भावना संग्रह

रचयिता एवं संग्राहक —

पू० ब्र० श्री चुन्नीलालजी देशाई

(राजकोट वाले)

प्रकाशक :—

श्री दिगम्बर जैन महिला समाज

सीकर (राजस्थान)

वीर निर्वाण	विक्रम सवत	ईस्वी सन्
२०८६	२०१७	१९६०

प्रकाशक
श्री दिगम्बर जैन महिला समाज
सीकर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान
श्री गुलाबबाई मंत्राणी
श्री दिगम्बर कन्या पाठशाला
सीकर (राजस्थान)

मुद्रक
भारती प्रेस
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।

भावना संग्रह

विषय–अनुक्रमणिका

नोट—स्व० प० श्री यतिनयनसुखदासजी काधलावालो की बारह भावना हमको मिली थी बडी सुन्दर है किन्तु वह इतनी विस्तार पूर्वक है कि पढनेवाला को अरुचि हो जाय दुसरी बात यह है कि वह एक ही भावना का प्रकाशन खर्च करीब ६० १०० लग जाता था यह दोनु बात को नजर में रखकर हमने भावना सग्रह में लीया नही है उनका मुझे खेद है अत. क्षमा प्रार्थी हू ।

भवदीय.—

ब्र० चुन्नीलाल देशाई

"दो शब्द"

मेरा गत वर्ष (सन् १६६०) का चातुर्मास सीकर नगर में हुवा। वहा छोटे बडे जिन मन्दिर, चैत्यालय व नसीयाजी मिलकर आठ जिनायतन है। श्री दिगम्बर जैन खन्डेलवालों के करीब ३५० घर है। दो औपधालय, एक कन्या पाठशाला तथा श्री दिगम्बर जैन हायर सैकेन्डरी स्कूल भी है। शहर पहाड़ों के बीच मे सुन्दर बसा हुआ है।

यहा पर स्त्री समाज मे धार्मिक भावना की लगन बहुत है वह नित्य अपने छह आवश्यक कर्म से सर्वत्र तत्पर रहती है तथा चार प्रकार के दान (अहारदान, औषधदान, ज्ञानदान तथा अभयदान) पूजा यथाशक्ति सयम, तप त्याग में पुरुप वर्ग से विशेप जागृत है। मेरे वर्षा काल के अनुभव से मैंने देखा तो ज्ञान हुवा कि महिला समाज मे गुरू भक्ति तथा व्रत–नियमादि की अधिक भावना है अत धन्यवाद के पात्र हैं।

मै प्रत्येक चातुर्मास मे समाज कल्याण के हितार्थ साहित्य लिखता रहता हूं तथा वाल बालिक व महिला समाज की पढ़ाई का शिक्षा देता रहता हूँ ताकि भविष्य की प्रजा धर्मज्ञ बनी रहे मैने सीकर नगर में बाल–बालिका तथा महिला समाज का धर्म सम्बन्धि क्लास खोला जिससे समाज के वाल–वालिका तथा महिलाओं ने लाभ उठाये।

इस चातुर्मास मे मैंने, भावना संग्रह, भक्ति संग्रह महा-वीर जयन्ती, द्रव्य संग्रह तथा श्रावक जीवन ज्योति साहित्य की रचना तथा संग्रह किया जिसमे चार साहित्य तो महिला समाज सीकर की तरफ से तथा श्रावक जीवन ज्योति का प्रकाशन का पूरा खर्चा श्री हनुमान बक्स माथुर कायस्थ सज्जन ने स्वेच्छा से दिया तथा उसी सज्जन ने चार साहित्य जो महिला समाज की तरफ से प्रकाशन के लिये था जिसमें ५०) रु० स्वेच्छा से दान में दिया जो प्रशंसनीय है-अनुकरण योग्य हैं। वह सज्जन जिज्ञासु तथा जैन धर्म के पक्के श्रद्धानी तथा तत्व प्रेमी है।

अन्त में इन साहित्य संग्रह करने में जिन जिन माता बन्धुओं ने सहायता की है उन सबका मैं समुदाय रूप से आभार मानता हू, यह जिनवाणी माता की सेवा है। प्रथम लिखा गया चार साहित्य का विषय ३२० पृष्ठ में छप जाने का अन्दाजा था किन्तु ज्यों ज्यों नये सुझाव मिलते गये त्यों त्यों विषय बढ़ जाने से ४८० पृष्ठ में पूर्ण होना सम्भव है।

पुन आगामी चातुर्मास में आशा करता हू कि जनता की सेवा मे चार साहित्य (१) देशविरति श्रावकाचार (२) जैन तत्व प्रवेशिका (३) खन्डेलवालोत्पत्ति (४) भेदविज्ञानसार तैयार कर उनका प्रकाशन कराऊंगा ऐसी पूर्ण आशा है।

ता० २२-१२-६०

जिनवाणी भक्त—
ब्र० चुन्नीलाल देशाई
(राजकोट)

श्री वीतरागाय नमः

भावना संग्रह

मंगलाचरण

"दोहा"

माता है वैराग्य की, सब जीवन हितकार ।
रत्न मालिका पाउं मैं, सकल भावना सार ॥

बारह भावना

(१)-(पं० भूधरदासजी कृत)

दोहा और सोरठा

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार ॥१॥
दल बल देई देवता, मात पिता परिवार ।
मरती विरियां जीवको, कोई न राखनहार ॥२॥
दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान ।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥३॥

आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय ।
यूं कबहूं इस जीवको, साथी सगा न कोय ॥४॥
जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपनो कोय ।
घर सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय ॥५॥
दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, अवर नहीं घिन गेह ॥६॥
मोहनींद के जोर, जगवासी घूमै सदा ।
कर्म चोर चहुं ओर, सरवस लूटैं सुध नहीं ॥७॥
सत गुरु देय जगाय, मोहनींद जब उपशमै ।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्मचोर आवत रुकै ॥८॥
ज्ञान-दीप तप तेल भर, घर शोधै भ्रम छोर ।
या विध बिन निकसै नहीं, पैठे पूरव चोर ॥९॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार ।
प्रबल पंच इंद्री-विजय, धार निर्जरा सार ॥१०॥
चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान ।
तामैं जीव अनादितैं, भरमत हैं बिन ज्ञान ॥११॥
धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभ करजान ।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ॥१२॥
जाचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन ।
बिन जाचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन ॥१३॥

(२)-(प० दौलतरामजी कृत)

मनोहर छन्द १४ मात्रा

जोवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी ।
इन्द्रीय भोग छिन थाई, सुर धनु चपला चपलाई ॥१॥
सुर असुर खगाधिप जेते, मृगज्यों हरिकाल दसेते ।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ॥२॥
चहुँ गति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं ।
सब विधि संसार असारा, यामैं सुख नाहिं लगारा ॥३॥
शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एकहि तेते ।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥४॥
जल पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
तौ प्रगट जुदे धन धामा, क्यों है इक मिल सुतरामा ॥५॥
यह रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली ।
नव द्वार बहै घिनकारी, अस देह करै किमियारी ॥६॥
जो जोगन की चपलाई, तातैं हैं आस्त्रव भाई ।
आस्त्रव दुख कारि घनेरे, बुध वंत तिन्हें निखेरे ॥७॥
जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥८॥
निज काल पाय विधि भरना, तासो निज काज न सरना ।
तप करि जो करम खपावै, सोई शिव सुख दरसावै ॥९॥
किन हू न करयो न धरै को, षट द्रव्यमयी न हरै को ।

ता लोक माहि विन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥१०॥
अन्तिम ग्रीवकलों की हद, पायो अनंत विरियां पद ।
पर सम्यक ज्ञान न लाध्यों,
दुर्लभ निजमें मुनि साध्यो ॥११॥
जो भाव मोहतैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै ॥१२॥
सो धर्म मुनिन करिधरिये, तिनकी करतूत उचरिये ।
ताको सुनिके भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥१३॥

(३)-(भैया भगवतीदासजी कृत)

चौपाई:—

पंच परम पद वंदन करो, मनवचभाव सहित उर धरों ।
बारह भावन पावन जान, भाऊं आतम गुण पहिचान ॥१॥
थिर नहि दीखैं नयनों वस्त, देहादिक अररूप समस्त ।
थिर विन नेह कौन सों करों, अथिर देखि ममता परिहरों ॥
अशरण तोहि शरण नहिं कोय, तीनलोकमें दृग धर जोय ।
कोई न तेरा राखन हार, कर्मन वश चेतन निरधार ॥३॥
अरु संसार भावना एह, पर द्रव्यन सों करै जु नेह ।
तू चेतन वे जड सरवंग, तातैं तजहु परायो संग ॥४॥
जीव अकेला फिरे त्रिकाल, ऊरध मध्य भुवन पाताल ।
दूजा कोई न तेरे साथ, सदा अकेलो भ्रमै अनाथ ॥५॥

भिन्न सदा पुद्‌गलतैं रहै, भर्म बुद्धि तैं जडता गहै ।
वे रूपी पुद्‌गल के खंध, तू चिन मूरति सदा अबंध ॥६॥
अशुचि देख देहादिक अंग, कौन कुवस्तु लगी तो संग ।
अस्थी मांस रुधिरगद गेह, मल मूत्रनि लखि तजहु स्नेह ।
आस्त्रव परसौं करे जु प्रीत, तातैं बंध बढहिं विपरीत ।
पुद्‌गल तोहि अपनपो नाहि, तू चेतन वे जड सब आँहि ।
संवर परको रोक न भाव, सुख होवे को यही उपाव ।
आवैं नहीं नये जहं कर्म, पिछले रुकि प्रगटे निज धर्म ॥
थिति पूरी है खिर २ जाहिं, निर्जर भाव अधिक अधिकाहिं
निर्मल होय चिदानंद आप, मिटै सहस परसंग मिलाप ।
लोक मांहि तेरो कछु नाहिं, लोक अन्यतू अन्य लखाहिं ।
यह सब षट द्रव्यनको धाम, तू चिन्मूरति आतमराम ।११।
दुर्लभ परको रोकन भाव, सो तो दुर्लभ है सुनु राव ।
जो तेरो है ज्ञान अनंत, सोनहि दुर्लभ सुनो महंत ॥१२॥
धर्म स्वभाव आप ही जान, आप स्वभाव धर्म सोई मान ।
जब वह धर्म प्रगट तोहि होय, तब परमातम पद लख सोय
येही बारह भावन सार, तीर्थङ्कर भावहि निरधार ।
है वैराग्य महाव्रत लेहि, तब भवभ्रमण जलांजुलि देहि ॥
भैया भावहु भाव अनूप, भावत होहु तुरत शिवभूप ।
सुख अनंत विलसो निशदीश, इम भाख्यो स्वामी जगदीश

(४)-(प० जयचंदजी कृत)

दोहा

द्रव्यरूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन ।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, पर्जय नयकरि गौन ॥१॥
शुद्धातम अरु पच गुरु, जग में सरनौ दोय ।
मोह उदय जियके वृथा, आन कल्पना होय ॥२॥
परद्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध ।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध ॥३॥
परमारथ तै आतमा, एक रुप ही जोय ।
कर्म निमित विकलप घने, तिन नासे शिव होय ॥४॥
अपने अपने सत्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।
ऐसे चितवै जीव तब, परतैं ममत न थाय ॥५॥
निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह ।
जानि भव्य निज भाव को, यासों तजो सनेह ॥६॥
आतम केवल ज्ञान मय, निश्चय दृष्टि निहार ।
सब विभाव परिणाममय, आस्रव भाव विडार ॥७॥
निज स्वरूप मैं लीनता, निश्चय संवर जानि ।
समिति गुप्ति संयम धरम, धरैं पाप की हानि ॥८॥
संवरमय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय ।
निज स्वरूप को पायकर, लोक शिखर जब थाय ॥९॥

लोक स्वरुप विचारि कैं, आतम रूप निहार ।
परमारथ व्यवहार गुणि, मिथ्या भाव निवारि ॥१०॥
बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भव मैं प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥११॥
दर्शज्ञान मय चेतना, आतम धर्म बखान ।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामैं गर्भित जान ॥१२॥

(५)-(पं० बुधजनजी कृत)

गीता छंद

जेती जगत मैं वस्तु तेती, अथिर परणमती सदा ।
परणमन राखन नाहिं समरथ इंद्र चक्री मुनि कदा ॥
सुतनारि यौवन और तन धन जान दामिनि दमकसा ।
ममता न कीजे धारि समता मानि जल मैं नमक सा ॥१॥
चेतन अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहैं ।
सो रहैं आप करार माफिक अधिक राखे ना रहैं ॥
अब शरण काकी लेयगा जब इंद्र नाहीं रहत हैं ।
शरण तो इक धर्म आतम जाहि मुनि जन गहत हैं ॥२॥
सुरनर नरक पशु सकल हेरे कर्म चेरे बन रहे ।
सुख शासता नहिं भासता सब विपतिमें अतिसन रहे ॥
दुख मानसी तो देवगति में नारकी दुख ही भरै ।
तिर्यंच मनुज वियोग रोगी शोक सङ्कट मैं जरै ॥३॥

क्यों भूलता शठ फूलता हैं देख परिकर थोक को ।
लाया कहां ले जायगा क्या फौज भूषण रोक को ॥
जनमत मरत तुझ एकले को काल केता हो गया ।
संग और नाहीं लगे तेरे मोख मेरी सुन भया ॥४॥
इन्द्रीनतैं जाना न जावे तू चिदानंद अलख है ।
स्वसंवेदन करत अनुभव होत तव परत्यक्ष है ॥
तन अन्य जड़ जानो सरुपी तू अरुपी सत्य है ।
कर भेद ज्ञान सो ध्यान धर निज और बात असत्य हैं ॥५॥
क्या देख राचा फिरै नाचा रुप सुन्दर तन लहा ।
मलमूत्र भांडा भरा गाढा तू न जाने भ्रम गहा ॥
क्यों सुग नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै ।
तुहिकाल गटकै नाहिं अटकै छोड़ तुझको गिर परै ॥६॥
कोइ खरा अरु कोइ बुरा नाहिं वस्तु विविध स्वभाव है ।
तू वृथा विकलप ठान उरमैं करत राग उपाव है ॥
यूं भाव आस्त्रव बनत तू ही द्रव्य आस्त्रव सुन कथा ।
तुझ हेतु से पुद्गल करम न निमित्त हो देते व्यथा ॥७॥
तन भोग जगत सरूप लख डर भविक गुरु शरणा लिया ।
सुन धर्म धारा मर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया ॥
इंद्री अनिंद्री दाबिलीनी त्रसरु थावर बंध तजा ।
तब कर्म आस्त्रव द्वार रोकै ध्यान निज मैं जा सजा ॥८॥

तज शल्य–तीनों वरत लीनो वाह्यभ्यंतर तपतपा ।
उपसर्ग सुर नर जड़ पशुकृत सहानिज आतम जपा ॥
तब कर्म रसबिन होन लागे द्रव्य भावन निर्जरा ।
सब कर्म हरके मोक्ष वरकैं रहत चेतन ऊजरा ॥९॥
बिच लोक नंतालोक मांही लौकमें द्रव सब भरा ।
सब भिन्न भिन्न अनादि रचना निमित कारण की धरा ॥
जिन देव भाषा तिन प्रकाशा भर्मनाशा सुन गिरा ।
सुर मनुष तिर्यक नारकी हुइ उर्ध्व मध्य अधोधरा ॥१०॥
अनंतकाल निगोद अटका निकस थावर तन धरा ।
भू वारिते जब यार व्हैकैं वेइंद्रिय त्रस अवतरा ॥
फिर हो तिइंद्री वा चौइंद्री पंचेंद्री मन बिन बना ।
मनयुत मनुगतिहोन दुर्लभ ज्ञान अति दुर्लभ घना ॥११॥
जिय ! न्हान धोना तीर्थ जाना धर्मनाहीं जपजपा ।
तन नग्न रहना धर्म नाहीं धर्म नाहीं तपतपा ॥
वर धर्म निज आतम स्वभावी नाहि बिन सब निष्फला ।
बुधजन धरम निज धार लीना तिनहिं कीना सब भला ॥

दोहा

अथिराशरण संसार है, एकत्व अनित्यहि जान ।
अशुचि आस्रव संवरा, निर्जर लोक बखान ॥१३॥
बोध रु दुर्लभ धरम ये, बारह भावन जान ।
इनको भावै जो सदा, क्यों न लहै निर्वान ॥१४

(६)-(प० शीवलाल कृत)

दोहा

"अनित्य भावना"

काया कञ्चन कामिनि, विषय भोग सब जोय ।
क्षण भङ्गुर संसार में, रहि न सके थिर कोय ॥१॥
जेती वस्तु जहान में, छिन छिन पलटा खाय ।
जो दिखती है भोर में, सो संध्या में नांय ॥२॥
इस जग में कोई कहीं, वस्तु न ऐसी खास ।
जिसमें हरदम के लिए, किया जाय विश्वास ॥३॥
लक्ष्मी संध्या की छटा, यौवन जल का फेन ।
राजत अक्षिनिमेष तक, जाय भ्रात वहेन ॥४॥

"अशरण भावना"

मात पिता सुत भामिनी, अरु जे प्रिय परिवार ।
काल व्याघ्र के गाल से, कोउ न राखन हार ॥५॥
धर्म एक ही जगत में, शरणागत प्रतिपाल ।
तेहि बिन रक्षा को करे, काल चक्र के जाल ॥६॥

"संसार भावना"

लेकर गर्भारम्भ से, देह त्याग पर्यन्त ।
जगत जीव सब दुःख से, पीड़ित हैं हाहन्त ॥७॥
कहीं कष्ट अति वृष्टि से, कहिं वर्षा विनु हाय ।

दुःख भरा इस लोक में, शान्ति नहीं कहिं पाय ॥८॥
रङ्गमञ्च यह जगत है, कर्म खिलावनहार ।
नाना रूप बनाय के, चेतन खेलनहार ॥९॥
कभी जीव माता बना, पिता पुत्र फिर नार ।
भाई भगिनी बन गया, यह विचित्र ससार ॥१०॥
यह ससार असार है, लेश न इसमें सार ।
भटका जीव अनादि से, पाया दुःख अपार ॥११॥

"एकत्व भावना"

जीव अकेला जन्मता, मरे अकेला होय ।
कर्मों का सञ्चय करे, सुख दुख भोगे सोय ॥१२॥
सभी कुटुम्बी हर्ष से, धन भोगे मन लाय ।
जीव अकेला कर्म का अपराधी बन जाय ॥१३॥
जीव अकेला स्वर्ग सुख, भोगे अति हर्षाय ।
नरकादिक दुख एकला, भोगत पुनि पछताय ॥१४॥
तन त्यागे जग जीव जो, रहे न संग छिन एक ।
किया कर्म 'लेकर चला, परभव प्राणी एक ॥१५॥

"अन्यत्व (परपत्त) भावना"

जीव जुदा काया जुदी, काया जीवन एक ।
क्षणभङ्गुर यह काय है, जीव नित्य पुनि एक ॥१६॥
काया पुद्गलपिंड है, चेतन ज्ञान सरुप ।

यह शरीर पुनिमूर्त है, जीव अमूर्त अनूप ॥१७॥

जीव अनादि काल से, सहता योग वियोग ।
कभी किसी से बिछुड़ता, कभी किमी से योग ॥१८॥

जितनी वस्तु जहान में, वे सब हैं परकीय ।
इनसे ममता त्याग कर, ध्यावो आतम स्वकीय ॥१९॥

"अशुचि भावना"

घृणित वस्तु संयोग से, हुई काय तैयार ।
अशुचि वस्तु से है बढी, माता गर्भागार ॥२०॥

उत्तम सुन्दर सरस भी, होय भले आहार ।
जाकर अन्दर काय के, अशुचि होत तैयार ॥२१॥

नेत्रादि नवद्वार से, झरता मैल हमेश ।
निर्मल यह नहिं बन सके, करिये यत्न अशेष ॥२२॥

हाड मांस का पींजरा, ढंका चामडी मांय ।
भरी असह दुर्गन्ध से, महा घृणित यह काय ॥२३॥

"आस्रव भावना"

मन बच तन के शुभ अशुभ, योगों से जी जोय ।
गहे शुभाशुभ कर्म को, आस्रव जानो सोय ॥२४॥

एकेन्द्रिय आधीन हो, मृग खोते निज गात ।
पंचेन्द्रिय आधीन जो, फिर उनकी क्या बात ॥२५॥

"संवर भावना"

जिस व्रत के स्वीकार से, आस्रव की सब आय ।
रुक जाती तत्काल ही, वह संवर कहलाय ॥२६॥
इब बरोही जाय वे, छिद्र तरी चढ जाय ।
बंद करे जब छिद्र को, सुख से दे तरि जाय ॥२७॥
आस्रव से जिस कर्म की, होती छिन छिन आय ।
जो रोके उन सबन को, संवर द्रव्य कहाय ॥२८॥
भव हेतुक सब कर्म का, मन से सच्चा त्याग ।
भाव रूप संवर वही, उस मुनियों की बाग ॥२९

"निर्जरा भावना"

जग का कारण भूत जो, कर्मों का सन्तान ।
उसका क्षय है निर्जरा, मुनिजन का अरमान ॥३०॥
जिमि सोने के मैल को, आग साफ करि देत ।
तिमि तप रुपी आग भी, आत्म शुद्धि कर देत ॥३१॥
पाप पहाड़ों के लिये, है यह वज्र स्वरूप ।
पाप रूप धन के लिये, है यह आंधी रूप ॥३२॥
इस तप के परभाव से, पापों का कर नाश ।
बहुत जनों ने है किया, अविचल शिवपुर वास ॥३३॥

"लोक स्वरुप भावना"

इस जग के संस्थान का, करना सदा विचार ।
लोक भावना है यही, धर्म बढावन हार ॥३४॥

लोक भावना के किये, तत्व ज्ञान प्रतिपाय ।
मन बाहर जावे नहीं, अन्दर थिर हो जाय ॥२५॥

"बोधि दुर्लभ भावना"

रत्न तीन सम्यक्त्व पुनि, ज्ञान बोधि का अर्थ ।
साधन मिलना धर्म का, कहीं होत यह अर्थ ॥२६॥
यहां ज्ञान ही मुख्य है, अन्य अर्थ है गौण ।
ज्ञान बिना सद्धर्म को, पहचानेगा कौन ॥२७॥
बोधि रत्न दोउ तुल्य है, इनमें धर्म समान ।
रत्नों में श्रुति मुख्य है, मुख्य बोधि में ज्ञान ॥२८॥
पड़ अगाध भव कूप मे, भटकत फिर हमेश ।
बोधि रत्न पावें कहां, जहां माया का देश ॥२९॥

"धर्म भावना"

जिससे परभव सुधरता, इस भव में कल्यान ।
वही धर्म है परम हित, अरु आगम अभिधान ॥४०॥
चारों ही पुरुषार्थ में, धर्म बड़ा सरदार ।
मूलभूत सब तत्व का, महिमा अमित अपार ॥४१॥
काम धेनु चिन्ता रतन, कल्प वृक्ष सुख हेत ।
सब सेवक हैं धर्म के, बिन मांगें फल देत ॥४२॥
धर्म भावना के किये, जीव धर्म थिर होय ।
धर्म कार्य में रत रहै. धर्म च्युत ना होय ॥४३॥

(७)-(प० मंगलरायजी कृत)

दोहा

वंदूं श्री अरहंत पद, वीतराग विज्ञान ।
वरणूं बारह भावना, जग जीवन हित जान ॥१॥

विश्नुपद छंद

कहां गये चक्री जिन जीता, भरत खंड सारा ।
कहां गये वह राय रु लछमन, जिन रावन मारा ॥
कहां कृष्ण रुक्मिणि सत भामा, अरु संपति सगरी ।
कहां गये वह रङ्ग महल अरु, सुवरन की नगरी ॥२॥
नहीं रहे वह लोभी कौरव, जूझ मरे रन में ।
गये राज तज पांडव वन को, अगिन लगी तने में ॥
मोह नींद से उठरे चेतन, तुझे जगावन को ।
हो दयाल उपदेश करैं गुरु, बारह भावन को ॥३॥

अथिर भावना

सूरज चांद छिपै निकलै ऋतु, फिर फिर कर आवै ।
प्यारी आयु ऐसी बीतै, पता नहीं पावै ।
पर्वत पतित नदी सरिता जल, बहकर नहिं हटता ।
स्वास चलत यों घटै काठ ज्यों, आरे सों कटता ॥४॥
ओस बूंद ज्यों गलैं धूप में, वा अंजुलि पानी ।
छिन छिन यौवन छीन होत है, क्या समझै प्राणी ॥

न्द्रजाल आकाश नगर सम, जग सम्पति सारी।
अथिर रुप संसार विचारो, सब नर अरु नारी ॥५॥

अशरण भावना

काल सिंह ने मृग चेतन को, घेरा भव वन में।
नही बचावन हारा कोई, यों समझो मन में ॥
मंत्र यंत्र सेना धन सम्पति, राज पाट छूटै।
वश नहिं चलता काल लुटेरा, काय नगरी लूटै ॥६॥
चक्र रतन हलधरसा भाई, काम नही आया।
एक तीर के लगत कृष्ण की, विनश गई काया ॥
देव धर्म गुरू शरण जगत में, और नहीं कोई।
भ्रम से फिरै भटकता चेतना, यूं ही उमर खोई ॥७॥

संसार भावना

जनम मरन अरु जरा रोग से, सदा दुखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव भव, परिवर्तन सहता ॥
छेदन भेदन नरक पशू गति, वध बंधन सहना।
राग उदय से दुख सुर गति में, कहां सुखी रहना ।८।
भोगि पुन्य फल हो इक इन्द्री, क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वहीं फिर, खुरपा अरु जाली ॥
मानुप जन्म अनेक विपतिमय, कहीं न सुख देखा।
पंचम गति सुख मिलै शुभाशुभ को मेटो लेखा ॥९॥

एकत्व भावना

जन्मै मरै अकेला चेतन, सुख दुख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह, देह जुदी होगी।
कमला चलत न पैंड जाय, मरघट तक परिवारा।
अपने अपने सुख को रोवैं, पिता पुत्र दारा ॥१०॥
ज्यों मेले में पंथी जन मिलि, नेह फिरैं धरते।
त्यों तरवर प रैन बसेरा, पंछी आ करते॥
कोस कोई दो कोस कोई उड, फिर थक थक हारैं।
जाय अकेला हंस संग में, कोई न पर मारैं ॥११॥

भिन्न भावना

मोह रूप मृगतृष्णा जगमें, मिथ्या जल चमकै।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ उठ, दौड़ै थक थक कैं।
जल नहिं पावैं प्राण गमावैं, भटक भटक मरता।
वस्तु पराई मानैं अपनी, भेद नहीं करता ॥१२॥
तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।
मिलै अनादि यतन तें बिछुडै, ज्यों पय अरु पानी॥
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद ज्ञान करना।
जौलों पौरुष थकै न तौलों, उद्यम सों चरना ॥१३॥

अशुचि भावना

तू नित पोखै यह सूखै ज्यों, धोवै त्यों मैली।
निश दिन करैं उपाय देह का, रोग दशा फैली॥

मात पिता रज वीरज मिल कर, बनी देह तेरी ।
मांस हाड नश लहू राध की, प्रगट व्याधि घेरी ॥१४॥
काना पौंडा पड़ा हाथ यह, चूसै तौ रोवै ।
फलै अनंत जु धर्म ध्यानकी, भूमि विषै बोवे ॥
केसर चंदन पुष्प सुगन्धित, वस्तु देख सारी ।
देह परसते होय अपावन, निशदिन मल जारी ॥१५॥

आस्रव भावना

ज्यों सरजल आवत मोरी त्यों, आस्रव कर्मन को ।
दर्वित जीव प्रदेश गहै, जब, पुद्गल भरमन को ॥
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ, निशदिन चेतन को ।
पाप पुन्य के दोनों करता, कारण बंधन को ॥१६॥
पन मिथ्यात योग पंद्रह, द्वादश अविरत जानो ।
पंचरु बीस कषाय मिले सब, सत्तावन मानो ॥
मोहभाव की ममता टारै, पर परणत खोते ।
करै मोख का यतन निरास्रव, ज्ञानी जन होते ॥१७॥

संवर भावना

ज्यों मोरी में डाट लगावै, तब जल रुक जाता ।
त्यों आस्रव को रोकै संवर, क्यों नहिं मन लाता ॥
पंच महाव्रत समिति गुप्तिकर, वचन काय मन को ।
दशविध धर्म परीषह बाईस, बारह भावन को ॥१८॥

यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते ।
सुपन दशा से चागो चेतन, कहां पड़े सोते ॥
भाव शुभाशुभ रहित शुद्ध, भावन संवर पावै ।
डांट लगत यह नाव पड़ी, मझधार पार जावै ॥१९॥

निर्जरा भावना

ज्यों सरवर जल रुका सूखता, तपन पड़ै भारी ।
सवर रोके कर्म निर्जरा, है सोखन हारी ॥
उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली ।
दूजी है अविपाक पकावै, पाल विषै माली ॥२०॥
पहली सबके होय नहीं, कुछ सरै काम तेरा ।
दूजी करै जु उद्यम करके, मिटै जगत फेरा ॥
संवर सहित करो तप प्राणी, मिले मुकत रानी ।
इस दुलहिन की यही सहेली, जाने सब ज्ञानी ॥२१॥

लोक भावना

लोक अलोक अकाश माहिं थिर, निराधार जानो ।
पुरुषरूप कर कटी भये पट, द्रव्यन सों मानो ॥
इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादी है ।
जीवरु पुदगल नाचै यामैं, कर्म उपाधी है ॥२२॥
पाप पुन्य सों, जीव जगत मैं, नित सुख दुख भरता ।
अपनी करनी आप भरै शिर, औरन के धरता ॥

मोह कर्म को नाश मेटकर, सब जग की आसा।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो वासा ॥२३॥

बोधिदुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रसगति पानी।
नरकाया को सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्रानी ॥
उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना।
दुर्लभ सम्यक दुलभ संयम, पंचम गुण ठाना ॥२४॥
दुर्लभ रत्न त्रय आराधन, दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव करना ॥
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै।
पाकर केवल ज्ञान नहीं, फिर इस भव में आवै ॥२५॥

धर्म भावना

षट दर्शन अरु बौद्ध रु नास्तिक, ने जग को लूटा।
मूसा ईसा और महम्मद, का महजब झूठा ॥
हो सुछंद सब पाप करै सिर, करता के लावै।
कोई छिनक कोई करता से, जग में भटकावै ॥२६॥
वीतराग सर्वज्ञ दोषविन, श्रीजिनकी वानी।
सप्त तत्व का वर्णन जामैं, सबको सुख दानी ॥
इनका चितवन वार बार कर, श्रद्धा उर धरना।
मंगत इसी जगत तै इक दिन, भव सागर तरना ॥२७॥

---

८ (म० म० श्री प० गिरधर शर्मा कृत)

(१) अनित्य भावना

देह गेह सजने में लगे क्या हो, 'गिरिधर',
देह गेह जोवन अनित्य सब मानिये।
पीपल के पात सम, कुंजर के कान सम,
बादल की छांह सम, इन्हें चल जानिये।
बिजली की चमक सी, पानी की बुद्बुद सी;
इन्द्र की धनुष सी, ये सम्पत्ति प्रमानिये।
दया, दान, धर्म में लगा के इसे भली भांति,
ठानिये परोपकार, सुख मन मानिये।

(२) अशरण भावना

राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, सेठ, साहूकार,
सुर, नर, किन्नर, सकल गिन जाइये।
कोई भी समर्थ नहीं, किसी को बचाने को,
आसरा इन्हीं से फिर किस तरह पाईये।
तारण तरण एक गुरु के चरण सोहें,
उनकी शरण गह ज्ञान मन लाइये।
गाइये गुणानुवाद 'गिरधर' ईश्वर के,
भय को नसाइये औ आनंद मनाइये॥

(३) संसार भावना

नाना जीव बार बार जनम जनम मरे,
नये नये धरैं देह जांच कर लीजिये।
जग है असार यहां कोई वस्तु सार नहीं,
दुख भरी गतियां हैं चारों, देख लीजिये।
'गिरधर' चित में न दोष कहीं घुस बैठें,
इससे सदा ही सावधान रह जीजिये।
सबकी भलाई कर रखिये चरित्र शुद्ध,
पीजिये सुज्ञानामृत आत्मध्यान कीजिये।

(४) एकत्व भावना

आये हैं अकेले और जायेंगे अकेले सब,
भोगेंगे अकेले दुख, सुख भी अकेले ही।
माता-पिता, भाई, बन्धु, सुत दारा, परिवार:
किसी का न कोई साथी सब हैं अकेले ही!
'गिरधर' छोडकर दुविधा, न सोच कर,
तत्त्व ज्ञान बैठ के एकान्त में अकेले ही!
कल्पना है नाम रूप, झूठे राव रंक भूप,
अद्वितीय चिदानंद तू तो है अकेले ही!

(५) अन्यत्व भावना

घर-बार, धन-धान्य, दौलत-खजाने माल;
भूषण-वसन, बड़े बड़े ठाठ, न्यारे है।

न्यारे न्यारे अवयव शिर, धड़, पांव न्यारे;
जीभ, त्वचा, आंख, नाक कान, आदि न्यारे हैं।
मन न्यारा, चित न्यारा, चित के विकार न्यारे,
न्यारा है अलङ्कार, सकल कर्म न्यारे हैं।
'गिरिधर' शुद्ध-बुद्ध तू तो एक चेतन है,
जग में हैं और जो जो तो से सारे न्यारे हैं।

(६) अशुचि भावना

'गिरिधर' मल मल साबु खूब न्हाये धोये,
क़ीमती लगाये तेल बार बार बाल में।
केवड़ा, गुलाब, वेला, मोतिया के सूंघे इत्र,
खाये खूब माल-ताल, पड़े खोटी चाल में।
पहने वसन नीके निरख निरख कांच,
गर्व कर देह का, न सोचा किसी काल में-
'देह अपवित्र महा, हाड मांस रक्त भरा,
थैला मल मूत्र का, बंधा है नस जाल में।'

(७) आस्रव भावना

मोह की प्रबलता से, कषायों की तीव्रता से,
विषयों में प्राणी मात्र देखो फंस जाते हैं।
यहां फंसे, वहां फंसे, यहां पिटे, वहां कुटे,
इसे मारा, उसे ठोका, पाप यों कमाते हैं।

पड़ते परन्तु जैसे जैसे हैं कषाय मंद,
वैसे वैसे उत्तम प्रकृति रच पाते हैं।
'गिरिधर' बुरे-भले, मन बच काय योग,
जैसे रहें वैसे सदा कर्म बन आते हैं।

(८) संवर भावना

तोड़ डाल भ्रम जाल, मोह से विरत होजा,
कर न प्रमाद कभी, छोड़ दे कषाय तू।
दूर हो विचार-घात करने से विषयों की,
माथे पड़ी सारी सह, मत उकताय तू।
मन रोक, वाणी रोक, रोक सब इन्द्रियों को,
'गिरधर' सत्य मानकर कर ये उपाय तू।
बंधेंगे न कर्म नये, निरपेक्ष हो के सदा,
कर्त्तव्य पालन कर, खूब ज्यों सुहाय तू।

(९) निर्जरा भावना

इससे न बात करो, इसे यहां न आने दो;
इसको सतावो, मारो, क्योंकि दोषवान है।
कपटी, कलंगी, क्रूर, पापी, अपराधी, नीच;
कामी. क्रोधी. लोभी. चरो. कुकर्मों खान है।'
रख के विचार ऐसे लोग जो सतावें तो भी.
सहले विपतियों को. माने ऋण दान है।

'गिरधर' धर्म पाले, किसी से न बांधे बैर,
तप से नसावे कर्म, वही ज्ञान वान है ।

(१०) लोक भावना

बांकी कर कोन्द्रियों को जरा पांव दूरे रख,
आदमी को खड़ा कर 'गिरिधर' ध्यान धर।
चतुर्दश राजू लोक ऐसा ही है नराकार,
उसमें भरे हैं द्रव्य छहों सभी स्थान पर ।
एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय. चतुरिन्द्रिय त्यों ।
पंचेन्द्रिय, संज्ञ्यसंज्ञी, पर्यप्तापर्याप्त कर—
भरे ही पड़े है जीव, पर सब चेतन हैं,
स्वानुभव करें त्यों त्यों पावें मोक्षधाम वर ?

(११) बोधि-दुर्लभ भावना

एक एक स्वास में अठारे अठारे बार.
मर मर धरे देह. जग जीव जान लों ।
बड़ी ही कठिनता से निकले निगोद से तो,
अगणित वार भ्रमें भव भव मान लो ।
दुर्लभ मनुष्य भव. सर्वोतम कुल धर्म,
पायो हो गिरिधर' तो सत्य तत्त्व ज्ञान लो ।
होकर प्रमाद वश कालक्षेप करो मत,
सबकी भलाई करो, निज को पिछान लो ।

(१२) धर्म भावना

बाहरी दिखावटों को रहने न देता कहीं,
सारे दोष दूर कर सुख उपजाता है।
काम क्रोध लोभ मोह राग द्वेष माया मिथ्या;
तृष्णा, मद, मान, मल सबको नसाता है।
तन-मन, वाणी वाणी को बनाता है विशुद्ध और.
पतित न होने देता ज्ञान प्रगटाता है।
'गिरिधर' धर्म प्रेम एक सत्य है जग बीच,
परमात्म तत्त्व में जो सहज मिलाता है।

---

(६) (श्री रतनचन्द्रजी कृत)

सवैया ३१॥

भोग उपयोग जे कहे हैं संसाररूप,
रमा धन पुत्र, औ कलत्र आदि जानिये।
ज्यूं ही जल बुंद बुंद प्रत्यक्ष है लखाव तनु,
विद्युत चमत्कार थिर न रहानिये।
त्यूं ही जग अथिर विलासको असार जान,
थिर नहीं दीखे सो अनादि अनुमानिये।
यह जो विचारे सो अनित्य अनुप्रेक्षा कहे,
प्रथम ही भेद जिनराज जो वखानिये ॥१॥

निर्जन अरण्य माहिं ग्रहे मृग सिंह धाय,
शरणन दिखे अशरण ताहि कहिये ।
हरिहरादि चक्रवर्ति पदत्यूं अथिर गिनो,
जन्म मरण सो अनादही लहिये ॥
यादी को विचारयो असार संसार जान,
एक अवलंब जिन धर्म नाहि गहिए ।
दृढ़ हिये धार निज आतम को कर विचार
तजके विकार सब निश्चल हो रहिये ॥२॥
कर्म काण्ड दाही थका आत्मा भ्रमण करें
नर जैसे नाटक अनंत काल करे है ।
पिता हुते पुत्र होय जनक होय सुत हूते,
स्वामी हुते दास भृत्य स्वामी पद धरे है ।
माता हूते त्रिया होय कामिनी ते माय होय
भव वन माहि जीव यूंही संसरे है ॥३॥
मैहूं जो एकाकिसदा देखिये अनंत काल
एकाकि जन्म मृत्यु बहु दुख सहो है ।
रोगन ग्रसो है एकै पाप फल भुजे धनो
एकै शौक वन्त को उदुती नाहिं सहो है ।
स्वजन न मात तात साथी नहिं कोय यह
रत्नत्रय साथी निज ताहिं नहिं गहो है ।
एकै यह आत्म ध्यावे एकै 'तपसा करावे
होय शुद्ध भावे तब मुक्ति पद लहो है ॥४॥

आतम है अन्य और पुद्गल हू अन्य लखो
अन्य मात तात पुत्र त्रिया सब जानरे ।
जैसे निशिमाहिं तरुहु पै-खग भेलें होय
प्रात उड़ जाय ठौर ठौर तिमि मानरे ॥
तैसें विनाशीक यह सकल पदार्थ है
हाटमध्यजन अनेक हौंय भेले आन रें ।
इन हुतें काज कछु सरने को नाहीं भैया
अनित्यानु प्रेचारूप यह पहचानरे ॥५॥
त्वचा पल अस्तिनसा जाल मल मूत्र धाम
शुक्र मल रूधिर कुधातु सप्त मई है ।
ऐसो तन अशुचि अनेक दुर्गंध भरो
श्रवै नव द्वार तामें मूढ़ मति दई है ॥
ऐसी यह देह ताहि लखके उदास रहो
मानो जीव एक शुद्ध वुद्ध परणई है
अशुचि अनुप्रेचा यह धारे जो इसी ही भांति
तज के विकार तिन मुक्ति रमा लई है ॥६॥

॥ चौपाई ॥

आश्रव अनुप्रेचा हियधार, सत्तावन आश्रव के द्वार ।
कर्म्माश्रव पै सार जु होय, ताको भेद कहूँ अब सोय ।
मिथ्या अविरति योग कषाय, यह सत्तावन भेद लखाय ।
बंधो फिरे इनके वश जीव, भव सागर में रुले सदीव ।

निकल पर हित ध्यान जब होय, शुभाश्रव को कारण सोय ।
कर्म्म शत्रु को कर संहार, तव पावे पंचम गति सार ।
आश्रव को निरोध जो ठान, सोई सम्वर कहो बखान ।
सम्वर कर सु निरजरा होय, सो है द्वय परकार हि जोय ।
इक स्वमेव निर्जरा पेख, दुजी निर्जरा तपहि विशेष ।
पूरव सकल अवस्था कही, संवर कर जु निर्जरा सही ।
सोय निर्जरा दो परकार, सविपाकी अविपाकी सार ।
सविपाकी सब जीवन होय, अविपाकी मुनिवर के जोय ।
तप के बल कर मुनि भोगाय, सोई भाव निर्जरा आय ।
बंधे कर्म्म छूटैं जिह घरी, सोई द्रव्य निर्जरा खरी ।
अधो मध्य अर उरध जान, लोक तीन यह कहे बखान ।
चौदह राजू सबे उतंग, बात तीन वेढे सर वंग ।
घनाकार राजू गण ईस, कहे तीन सै तैतालीस ।
अधो लोक चौखू टो जान, मध्य लोक झालरी समान ।
ऊरध लोक मृदंगा कार, पुरुपाकार त्रिलोक निहार ।
ऐसो निज घट लखे जुकोय, सो लोकानु प्रेक्ष यह होय ।
दुर्लभ ज्ञान चतुर गति माहिं, भ्रमत भ्रमत मानुष गती पाहिं
जैसे जन्म दरिद्री कोय, मिलीं रत्न निधि ताको सोय ।
त्यूं मिलियो यह नर पर्याय, आर जरवड़ ऊंच कुल आय ।
आयु पूर्ण पंच इन्द्री भोग, मंद कषाय धर्म संयोग ।

यह दुर्लभ है या जग माहिं, इनविन मिले मुक्ति पद नाहिं ।
ऐसी भावना भावे सार, दुर्लभ अनुप्रेक्षा सुविचार ।
पालैं धर्म यतन कर जोय, शिव मंदिर ते लहे जु सोय ।
धर्म भेद दश विध निरधार, उत्तम क्षमा पुन मार्दव सार ।
आर्यव सत्य शौच पुन जान, संयम तप त्यागादि पहिचान ।
आकिंचन ब्रह्मचर्य गनेव, यहदश भेद कहे जिन देव ।
धर्म हिते तीर्थंकर गति, धर्म हिंतैं होवे सुर पती ।
धर्म हिंतै चक्रैश्वर जान, धर्म हिंतैं हरि प्रति हरि मान ।
धर्म हितै मानुज अवतार, धर्म हिंतैं हो भवदधि पार ।
रत्नचन्द्र पद करें बखान, धर्म हिंतैं पावे निर्वान ।

❋ ॐ ❋

(१०) द्वादशानुप्रेक्षा

रचयिताः—ब्र० चुन्नीलाल देशाई (राजकोट वाले)

(१) अनित्य भावना

जोगीरासा (नरेन्द्र छद)

(१)

मनुज देव राजा के सुन्दर, भवन बने हों भारी ।
चाहे शयनासन वाहन, रथ आदि वस्तुएं सारी ।

मात पिता दारा सुत बांधव, सेवक आदिक भैया।
नाशवंत जग की सामग्री, काहे तू भरमैया॥

(२)

ये इन्द्रिय के रूप अथिर है, विनाशीक बल यौवन।
तन निरोगता, तेज, पुण्य, सौंदर्य सभी है चेतन।
इन्द्रधनुषसम विलय जाय है, पलमें वार न लागै।
सुपने की सी माया है रे, चित्त न यामैं पागै॥

(३)

देव असुर नर राजाओं के, वैभवसे है न्यारा।
जाका निश्चलरूप अनूपम, ऐसा आत्म हमारा।
ध्याओ निश्चयनयसौं ऐसा, शुद्ध बुद्ध अविकारी।
मेरा आतम है परमातम, ज्ञानदर्श-धन धारी॥

(२) अशरण भावना

(४)

नाहि जीवको शरणा कोई, मरण समय जगमांही।
नाना रथ हाथी घोड़े या, मणी मंत्र अधिकाई।
रक्षक कोऊ नाहि सहाई, विद्या औषध सारी।
धर्म शरण बस याको धारो, जनम मरण निरवारी॥

(५)

जाके वज्रमयी हथियारा, स्वर्ग किला है भारी।
देव अनेकों सेवक जाके, नाना महल अटारी।

गज ऐरावत होय इन्द्रको, तौहू शरण न कोई।
समय आय माला मुरझावै, मरण सुनिश्चित होई॥

(६)

नवनिधि चौदहरत्न सुजाके, अरु सेना चतुरंगी।
तौहू चक्रवर्तीका यामैं; नाहीं कोऊ संगी।
मरण समय काहू का शरणा, वह हू नाहीं पावै।
आयू पूर्ण भये षट्खंडी, कालवली-मुख जावै॥

(७)

करै स्वयं निज रक्षा अपनी, आतम ही जगमांही।
जन्मजरामृतु रोग रु भयतैं, देखो दृष्टि लगाई।
कर्मबंध सत्तातै न्यारा, कर्म उदयतैं न्यारा।
ऐसा आतम शरण आपको, अन्य न कोउ सहारा॥

(८)

पंच परमपद जग मे उत्तम, जिनशासन में गाये।
अर्हत्सिद्ध आचार्य उपाध्याय, सर्वसाधु बतलाये।
ये पन पद आतम परिणामा, यातैं आतम का ही।
शरणा मोकूं इस जगती में, अन्य शरण मम नाहीं॥

(९)

दर्शन ज्ञान चरित तप चारों, आतम के परिणामा।
तातै मेरा आतम मोकों, शरणरूप जगधामा।

ऐसा चिन्तन कर हे चेतन, या भव वन के मांही।
आतम आतमकूं शरणा है, और ठौर कछु नाही॥

(३) एकत्व भावना

(१०)

जीव अकेला कर्मबंधका, कर्ता निश्चय जानो।
भव वन मांही भ्रमण, अनंतोकाल करै इक मानो।
जन्मत एकहि मरत एकलो, नाहि संग में कोई।
कर्म शुभाशुभ फलका भोगी, एक हि जग में होई॥

(११)

पंचेन्द्रिय के विषयों के वश, तीव्र लोभ के द्वारा।
पाप अकेला करता प्राणी, भोगै दुःख अपारा।
नर्कयोनि में तिर्यग्योनि में, लहै वेदना भारी।
याहिभांति भव भव दुःख भोगे, बार बार संसारी॥

(१२)

सदा एक हूं, निर्मम हूं मैं, शुद्ध सदा अविकारी।
ज्ञानदर्शलक्षणका धारी, अन्य भाव परिहारी।
शुद्ध एकता उपादेय है, भव भव के दुख घाता।
यों चिन्तै संयम का धारी, लहै परम सुख साता॥

(४) अन्यत्व भावना

(१३)

मात पिता सुत दारा बांधव, सभी स्वार्थ के साथी।
जीव संग सम्बन्ध न कोई, न्यारे हय रथ हाथी।

जेते हैं सम्बन्ध जगत के, सबही जियतैं न्यारे।
चेतन चेतो अबहू प्यारे, निज विवेक संभारे ॥

(१४)

नाहि तनिकहू अपनी चिंता, पर की चिंता भारी।
'इह मेरा इह मेरे स्वामी का' यौं जिय ससारी।
परको निज निजको पर मानै, यह जग में अभिमानी।
या अपार भवसागर मांही, डूबत यौं अज्ञानी ॥

(१५)

जग की सब ही तन धन आदिक, वस्तु आत्म से न्यारी।
मेरा आतम ज्ञानदर्शमय, रूप अखंडित धारी।
नाहि किसी से कोई नाता, हूं चैतन्य विलासी।
भावो यौं अन्यत्वभावना, दाता सुख अविनाशी ॥

(५) ससार भावना

(१६)

जिन मारग को मूढ जीव ने, कबहू नाहि निहारा।
पंचपरावर्तनमय जग में, यातैं भ्रमत विचारा।
जन्मजरामृतु रोग रु भयका, दुःख लहै है भारी।
आज तलक दुख से निकसन की, आई नाहीं बारी ॥

(१७)

पुत्र कलत्र निमित्त पाप में, बुद्धि करै धन लावै।
दया दानको त्यागै मोही, भव भव में भटकावै।

यौं अनादि से पाप करे है, विषयों के वश भारी।
याही तैं यह होय रह्यो है, जीव दुखी संसारी॥

(१८)

जग के सवही द्रव्य भिन्न है, देत प्रत्यक्ष दिखाई।
मोह उदय यह जग में तौहू, अपना मानै भाई।
मेरा पुत्र नारि यह मेरी, धान्य रु धन है मेरा।
या भ्रम भटकै, छूटै नाहीं, यह संसार बसेरा॥

(१९)

मिथ्यात्वोदय में यह प्राणी, निन्दै प्रभु की वानी।
धर्म अहिंसा खोटा लागै, जो शिव सुख का दानी।
पाप कर्म में राचै, मानै रागादिकयुत देवा।
भव भटकै खोटे गुरु, खोटे-तीरथ को करि सेवा॥

(२०)

रात दिवस विषयों में राचै, रुचै जगत की माया।
यत्नसहित बहु पाप करै है, मोह तिमिर उर छाया।
पर पदार्थ के संचयमांही, शक्ति लगावे सारी।
लख चौरासी योनी में यौं, जीव लहै दुःख भारी॥

(२१)

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग अरु लाभालाभ सु जानो।
सुख दुख आदर और अनादर, लहै जीव इह ठानो।

है स्वाभाविक जगत अवस्था, ऐसी देखो भाई।
अब निज आतम निधि प्रगटाओ, ज्यों भव दुख नश जाई।

(२२)

कर्म निमित्त पायकर भटके, जीव घोर भव वन में।
निश्चय से बंधन करमों का, है नाही चेतन में।
दुःख रहित संसार रहित है, द्रव्यकर्म सों न्यारा।
पर द्रव्यनतैं भिन्न सही है, शुद्ध बुद्ध अविकारा॥

(२३)

भव अतिक्रांत भये जे जीवा, उपादेय ते उत्तम।
ध्यान उन्हीं का करना सुखकर, सिद्धि लहावो अनुपम।
भव दुख से आक्रांत जीवका, ध्यान हेय है जानो।
परमातम ही ध्यावो, पावो, जो शिवसुख परधानो॥

(६) लोक भावना

(२४)

जीव रु पुद्गल धर्म अधर्माकाश काल पहिचानौ।
इन षट द्रव्यन का समूह जो, सोही लोक सु जानौ।
तीन भेद हैं तास लोक के, ऊर्ध्व मध्य पाताला।
नहीं होय विपरीत व्यवस्था, यौं शाश्वत हि त्रिकाला॥

(२५)

अधोलोक में नरक सात हैं, कहे जिनागम मांही।
मध्यलोक में द्वीप रु सागर, राशि असंख्य बताई।

प्रथम युगल के ऋजुविमानको, आदी लेकर भाई।
भेद तिरेसठ ऊर्ध्वलोक के, और मोक्ष अधिकाई॥

(२६)

अशुभ भावसों नरक और, तिर्यंचयोनि जिय पावै।
शुभ भावकसौं देव मनुज हो, सौख्य अनेक लहावै।
शुद्ध भाव हैं अजर अमर अविनाशी पद के दाता।
लोकभावना यों चिंतन करि, जोड़ि मोक्षसों नाता॥

(७) अशुचि भावना

(२७)

हाड मांस का पिंड बना यह, चाम लपेटा सो है।
भीतर कृमिकुलसों पूरित है, यह स्वरूप तनको है।
महा मलिन है अथिर अपावन, सारहीन दुखकारी।
ऐसे तनसौं कौन करेगा, प्रीत कहो सुविचारी॥

(२८)

दुर्गंधीमय अति घिनावनी, देह अशुचि गागर है।
समलमूत्र जड़ मूरत, सन्मुख-पतन, दुःख आगर है।
स्खलनस्वभावी नित्य क्षीण यह, होय कृतघ्नी काया।
ऐसा चिंतन करो निरंतर, त्यागो याकी माया॥

(२९)

तनसौ आतमद्रव्य भिन्न है, शुद्ध सदा अविनाशी।
कर्मरहित चैतन्यमूर्ति अरु, स्व-पर पदार्थ प्रकाशी।

अंतरहित-सुखधाम सही हैं, या प्रकारसे भाई।
नितप्रति बारंबार चिंतवौ, जियको परम सहाई॥

(८) आस्रव भावना

(३०)

एकांतिक विपरीत विनय, संशय अजान के द्वारे।
हिंसा मृषा चौर्य अब्रह्म, परिग्रह अविरति हि सहारे।
क्रोध मान माया रु लोभ चतु. हैं कषाय दुखदाया।
मन वच काय त्रियोग इन्हींतैं, हो आस्रव जिन गाया॥

(३१)

कर्म अस्रवनतै जिय डूबै, भवसागर के मांही।
भोगैं दुःख अनंते प्राणी, कहत न पार लहाही।
सम्यक् ज्ञानसहित जे किरिया, मोक्ष निमित सो जानो।
परंपरा अविचल सुख पावै, यह निश्चय उर ठानो॥

(३२)

आस्रव ही के कारण है संसार लेहु चित धारी।
जीव रुलै भव भव दुख भोगै, जन्म मरण के भारी।
यातैं आस्रव क्रिया कदापि हि, मोक्ष निमित्त न होई।
जहं आस्रव तह मोक्ष कहांते, यौं चिन्तौ भ्रम खोई॥

(३३)

कर्मनके आस्रवकी कर्ता, क्रिया, न दे शिवथानो।
गमनरूप भवको कारण है, यातैं निंद्य पिछानो।

परम्परासौं ह आस्रव किरियातैं शिवसुख नाही ।
यह निश्चित सिद्धांत विचारो, अंतर शांत बनाई ॥

(३४)

पूर्वकथित मिथ्यात्व आदि जे, आस्रव भेद बखाने ।
निश्चयसौं आतम के नाहीं, यौं चिंतन उर आने ।
द्रव्य और भावास्रवसौं है, भिन्न आतमा मेरा ।
बारंबार भावना भावै, मिटै सकल जग फेरा ॥

(९) संवर भावना

(३५)

समकितरूप सुदृढ कपाट, चल-मल अगाढ़ बिन जिनके ।
मिथ्यात्वास्रवद्वार बंद हो जात सुनिश्चित तिनके ।
यह जिनदेव कथित कथनी है, सुखकर दुख की हर्ता ।
जानो मानो भव दुख हानो, होओ शिवसुख-भर्ता ॥

(३६)

पंच महाव्रत परिणामनतैं, अविरति रुक जावै है ।
हिंसादिक पापनका आस्रव, कबहु न हो पावै है ।
निष्कषाय भावनतैं नाहीं क्रोधादिक आस्रव हो ।
निश्चय संवर प्रगटै तब, जब शुद्धातम अनुभव हो ॥

(३७)

अशुभ योगका संवर होवै, शुभ योगन के द्वारे ।
शुभहि योगका पुनि निरोध, शुद्धोपयोग संभारे ।

जब जिय सब कर्मनकूं रोकै, तब संवर सुखदाई।
वार वार चेतन मन चितौ, सौख्य लहो अधिकाई॥

(३८)

परम शुद्ध उपयोग धार जिय, धर्म शुकलको पावै।
तातैं संवर–हेतु ध्यान ही, जगमांही जु कहावै।
यौ नित चितन करौ ध्यान, धारि-संवरको प्रगटाओ।
ये ही सुखकारी दुखहारी, अन्य विकल्प मिटाओ॥

(३६)

नाहिं शुद्ध निश्चयनयसों है, संवर इस चेतन में।
शुद्धदृष्टिसौं शुध्द जीव है, यौं देखो निज मनमें।
शुद्ध बुद्ध अविकारी चेतन, सवर रहित विचारो।
शुद्धातमका शुद्धभावसौं, ध्यान धरो अविकारो॥

(१०) निर्जरा भावना

(४०)

कर्मबंधपरदेस-गलन सो, सही निर्जरा जानो।
यौं जिनदेव कथन कीना है, यामैं शंक न आनो।
जिन परिणामनतैं संवर तिनतैंहि निर्जरा होवै।
यौ निर्जरास्वरूप पिछानो, भविजन! भवदुख खोवै॥

(४१)

अपनी काल पाय विधि छूटै, सो सविपाक कहावै।
तप द्वारा अविपाक कहावै, इम द्वय भेद रहावै।

प्रथम निर्जरा चतुर्गतिन के, सब जीवन के होई।
अरु दूजी व्रतसहित जीव के, भव भवके दुख खोई ॥

(४२)

श्रावक अरु मुनि धर्म कह्यो एकादश, दश परकारा।
सम्यक्युत यह धर्म सही है, पार उतारनहारा।
जे धारै ते भवि उत्तम सुख, लहैं जगत के मांही।
धर्म सदा सुखकारी, जगमें-या सम उत्तम नांही ॥

(४३)

उत्तमक्षमा मारदव आर्जव, सत्य शौच मन आनो।
संयम तप त्याग रु आकिंचन, ब्रह्मचर्य पहिचानो।
यौं दशधा मुनिधर्म बखानो, तिहूं जग में विख्याता।
भव दुखहारी भवि सुखकारी, उत्तम सौख्य प्रदाता ॥

(४४)

जे प्राणी मुनिधर्म आदरै, श्रावकधर्म ही छंडै।
ते अविचल अनुपम अविनाशी मुकतिरमासुख मंडै।
वीतराग निर्गंथ दिगम्बर-साधुधर्म विन धारे।
होय नाहि तिहुं काल मुकति यौं, देखो भरम विडारे ॥

(४५)

निश्चयनयसौं श्रावक अरु मुनिधर्मरहित जिय न्यारा।
अनगार रु सागारधर्म यौं, भेद कहे व्यवहारा।

तातैं धरि माध्यस्थभाव नित, निज शुद्धातम ध्यावो ।
या विधि करि ऐसी निधि प्रगटै, त्रिजगनाथ कहलावो ॥

(१२) बोधिदुर्लभ भावना

(४६)

जिस उपायतैं सत्यज्ञान की, हो उपलब्धि निराली ।
तिस उपायका चिंतन धारो, जग उपाधि सब टाली ।
धन कन कंचन राज सम्पदा, सबहि सुलभ जगमांही ।
दुर्लभ सम्यक्ज्ञान पावना, करो भावना भाई ॥

(४७)

प्रत्याख्यानमयी भवि जानो, प्रतिक्रमणमय जानो ।
अरु आलोचनमयी पिछानो, है समाधिको थानो ।
यों द्वादश अनुप्रेक्षा भारी, सुखकारी अघहारी ।
तातैं एक चित्त करि चिन्तौ, अनुप्रेक्षा सुविचारी ॥

(४८)

सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान अरु प्रत्याख्यान विचारो ।
निंदा-गर्हा आलोचन ये, आवश्यक उर धारो ।
रात दिवस नित करौ भविकजन आतमशक्ति सम्हारी ।
निज बल नाहि छुपावो, पावो, अनुपम सुख अविकारी ॥

(४९)

द्वादश अनुप्रेक्षा जिन जीवन, ने चिंतमांहि चितारी
तिर असार संसार अवस्था, भये मोक्ष अधिकारी

पुनि पुनि नमस्कार तिन सबको, करूं जोर कर दोई।
इन द्वादशभावनप्रभावतैं, क्लेश मिटै, सुख होई॥

(५०)

भूतकालमांही जे पहुंचे शिवथानक भविजीवा।
जे भवि भावी में पहुंचेगे, अनुपम रस के पीवा।
सो महिमा बारह भावन की, भावै सो सुख पावै।
भव विकराल भ्रमण सौं छूटै, मुकतिसौख्य अपनावै॥

---

(११) ("श्री युगल कोटा कृत")

(१) अनित्य भावना

भव वन में जीभर घूम चुका, कण कण को जीभर भर देखा।
मृग-सम मृग-तृष्णा के पीछे, मुझको न मिली सुख की रेखा।
झूंठे जग के सपने सारे, झूंठी मन की सब आशायें।
तन जीवन यौवन अस्थिर है, क्षणभंगुर पल में मुरझाए।

(२) अशरण भावना

सम्राट महाबल सेनानी उस क्षण को टाल सकेगा क्या?
अशरण मृत काया में हर्षित निज जीवन डाल सकेगा क्या?

संसार भावना

संसार महा दुख सागर के प्रभु दुःख मय सुख आभासो में
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी कंचन कामिनि प्रासादों में

एकत्व भावना

मैं एकाकी एकत्व लिए, एकत्व लिये सब ही आते
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड चले जाते

अन्यत्व भावना

मेरे न हुए ये मैं इनसे अति भिन्न अखण्ड निराला हूँ
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज सम रस पीने वाला हूँ

अशुचि भावना

जिसके शृंगारों में मेरा, यह मंहगा जीवन धुल जाता
अत्यन्त अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता

आश्रव भावना

दिन रात शुभाशुभ भावों से मेरा व्यापार चला करता
मानस वाणी और काया से, आश्रव का द्वार खुला रहता

संवर भावना

शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तस्तल
शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्तर्बल

निर्जरा भावना

फिर तप की शोधक वन्हि जगे, कर्मों की कड़ियां टूट पड़ें
सर्वाङ्ग निजात्म प्रदेशों से अमृत के निर्झर फूट पड़ें

लोक भावना

हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकांत विराजें क्षण में जा
निज लोक हमारा बासा हो शोकांत बने फिर हमको क्या

बोधि दुर्लभ भावना

जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो ! दुर्नयतम सत्वर टल जावे
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊँ, मद–मत्सर मोह विनश जावे

धर्म भावना

चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी,
जग में न हमारा कोई था हम भी न रहे जग के साथी
चरणों में आया हूँ प्रभुवर, शीतलता मुझको मिल जावे,
मुरझाई ज्ञान लता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जावे

---

१२८ (प० बारेलाल जी वैद्य कृत)

१ अनित्य भावना

संसार में सुत सुता सजनी सजन अरू सीमन्तिनी ।
गो गेह गज तारूण्य तन, सम्पति संकट टालिनी ।।
सब चंचला चपला सदृश, अस्थिर यही निश्चय करो ।
मोहित न होकर के इन्हो में, स्वात्म–हित साधन करो ।।

२ अशरण भावना

सुर असुर सुरपति नृपति खगपति वैद्य निर्धन अरु धनी ।
विद्वान मूरख सुभग दुर्भग गुणी अथवा अव गुणी ।।

ससार में कोई मरण से, है बचा सकता नहीं ।
चाहे करे वे मन्त्र औषधि तंत्र जितने हो सभी ॥

३ संसार भावना

सुर नर नरक तिर्यंच गति में, जीव दुस्सह दुःख सहे।
कर पंच परिवर्तन तथा, नित कर्म से पीड़ित रहे ॥
निःसार यह संसार सब, विध सार कुछ भी है नहीं ।
भूले हुए हो व्यर्थ क्यों, इसमें न सुख साता नहीं ॥

४ एकत्व भावना

प्राणी शुभाशुभ कर्म फल, सहता अकेला आप है ।
साता असाता बांट सकता, नहीं कोई आप है ॥
माता पिता सुत सुता सजनी, सजन पति पत्नी सभी ।
है स्वार्थ के साथी सभी, नहिं दुःख के साथी कभी ॥

५ अन्यत्व भावना

प्राणी तथा पुग्दल परस्पर, में सदा से हैं मिले ।
पर है पृथक के पृथक दोनों, नीर पय ज्यों हो मिले ॥
अत एव जब संसार में तन भी तुम्हारा है नहीं ।
तो धन तथा परिजन तुम्हारे, कहो हो सकते कहीं ! ॥

६ अशुचि भावना

जोपल रूधिर मल राध अथवा कीनरादिक से भरी ।
संसार में जिससे सदा ही अशुचिता फैले खरी ॥

जो सदा नव मार्ग से, नित मल बहाती ही रहै।
ऐसी अपावन देह को हे जीव! तू क्यो कर चहै॥

७ आश्रव भावना

मन वचन तन त्रय योग द्वारा कर्म जल नित आरहा।
नर देह नौका से तुम्हें, जग जलधि बीच डुबी रहा॥
जिससे तुम्हें था पार होना, डूब उसमें हो रहे।
सोचो जरा जग जलधि में, नौका न जिससे थक रहे॥

८ संवर भावना

त्रय गुप्ति पंच समिति परी, षट् और चारित से सभी।
रोक दो मन काय वच से छिद्र नौका के अभी॥
क्षोभित न हो करके तुम्हारी, नाव तिरने के लिये।
जिससे समर्थ बने तुम्हें, भव पार करने के लिये॥

९ निर्जरा भावना

पूर्व का संचित किया जो कर्म रूपी नीर है।
जिससे तुम्हारी नाव देखो, डूबने में लीन है॥
लेकर विशाल कपाल कर में अब उलीचो वह सभी।
संसार सागर पार नौका, यह तुम्हारी हो तभी॥

१० लोक भावना

नभ में चतुर्दश राजु परमित एक लोकाकाश है।
जो स्वयं सिद्ध अनादि से, हर्ता न कर्ता खास है॥

धर स्वांग नाना भांति इसमे, जीव सहता त्रास है।
इसके उपरि अष्टम धरा ही, सिद्ध सुख की राशि है॥

११ बोधि दुर्लभ भावना

दुर्लभ्य नित्य निगोद से व्यवहार में है आवना।
दुर्लभ्य त्रस पर्याय से है, कठिन नरतन पावना॥
दुर्लभ्य श्री जिन धर्म से भी बोध दुर्लभ पावना।
अतएव ! आतम हित करो भी नित्य बारह भावना॥

१२ धर्म भावना

स्वभाव ही तो आतमा का श्रेष्ठ सुन्दर धर्म है।
औपाधि भावों को स्वय आत्मा करे अज्ञान है॥
तज कर्म कारण जीव-स्व स्वभाव में ही लीन हो।
तज कर समस्त विभाव निज, सुख में सदा लवलीन हो॥

१३-(प० दीपचन्दजी कृत)

दोहा

द्रव्य दृष्टि से वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार।
तासे योग वियोग मे, हर्ष विषाद निवार॥१॥
शरण न जियको जगत में, सुरनर खगपति सार।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार॥२॥
जन्म जरा गद मृत्यु भय, पुनि जहँ विषय कषाय।
होवे सुख दुख जीव को, सो संसार कहाय॥३॥

पाप पुण्य फल दुःख सुख, सम्पत विपत सदीव ।
जन्म जरा मृतु आदि सब, सहे अकेलो जीव ॥४॥

जा तन में नित जिय बसै, सो न आपनो होय ।
तो प्रतत्त जो पर दरब, कैसे अपनो होय ॥५॥

सुष्ठु सुगंधित द्रव्यको, करे अशुचि जो काय ।
हाड़ मांस मल रुधिर थल, सो किम शुद्ध कहाय ॥६॥

मन वच तन शुभ अशुभ ये, योग आस्त्रव द्वार ।
करत बंध विधि जीवको, महा कुटिल दुखकार ॥७॥

ज्ञान विराग विचार के, गोपे मन वच काय ।
थिर है अपने आपमें, सो संवर सुख दाय ॥८॥

पांचों इन्द्रिय दमनकर, समिति गुप्ति व्रत धार ।
इच्छा विन तप आदरै, सो निर्जरा निहार ॥९॥

पुद्गल धर्म अधर्म जिय, काल जिते नभ मांहि ।
नराकार सो लोक में, विधिवश जिव दुख पांहि ॥१०॥

सबहि सुलभ या जगत में, सुर नर पद धन धान ।
दुर्लभ सम्यग्बोधि इक, जोहै शिव सोपान ॥११॥

जप तप सयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार ।
'दीप'रमण चिद्रूप निज, निश्चय वृष सुखकार ॥१२॥

१४ (श्री नत्थमलजी विलाला कृत)

चौपाई 'अनित्यानुप्रेक्षा"

तब विरक्त चित ह्वै नरराय, अनुप्रेक्षा द्वादश शिवदाय ।
शुभ वैराग्य सिद्धि के हेत, भावत भावना भूप सचेत ॥

यह शरीर चंचल निरधार, तरु छाया सम जान असार ।
जल बुद बुद सम जीवन जान, सुपनावत सब वस्तु प्रमान

मानुष को जीवो जग मांहि, छण भंगुर है संशय नांहि ।
बादल वत है विनशत सोय, लाये थिर मति कैसे होय ॥

चक्री नृप के विषय अनूप, तो भी विनश जाय दुख रूप ।
औरन की कहिये का कथा, शिव निमित्त तजिये सर्वथा ॥

विनशीक यह देह असार, ताकर शुद्ध पुरुष निरधार ।
अविनश्वर पद साधन करे, तेई नर भव सागर तरे ॥

नहीं शाश्वती जगत मंझार, कोई वस्तु यहां निरधार ।
गगन इन्द्र धनु तुल्य सदीव, देखत ही प्रिय लगे अतीव ॥

भरत आदि चक्री जग मांहि, कोऊ बचे कालतैं नांहि ।
ता निमित्त तूं दुख क्यों सहे, सफल समय कर अपनो यहैं

रोला छंद

गगन नगर सम तूल, संग वल्लभ जन केरो ।
जलद पटल के तुल्य, रूप जोवन धन तेरो ॥

स्वजन पुत्र तन आदि बीजरी सम चमकारा ।
छिन भंगुर संसार वृति सब है निरधारा ॥

"अशरण भावना"

चौपाई

शरण रहित वनमें मृगराय, मृग के शिशु कूं दावे आय ।
रक्षा तास होय नहिं यथा, यम प्राणी कूं दावे तथा ॥

अडिल्ल

सुभट वीर बहु जतन करे आयुध धरे ।
भारी हय दन्ती बैंठे रक्षा करे ॥
यमराज प्राणी कों पकड़े आप के ।
ज्यों मुसे को ग्रहे बिलाव सुधाय के ॥

चौपाई

मंत्र जंत्र आदिक जे सबै, शरण जीवकूं नाही कबै ।
श्रीजिन भाषित धर्म प्रधान, सोई शरण जगत में जान ॥
निजदेही कूं चलती बार, रक्षा करन हेत निरधार ।
मघवा भी समर्थ नहिं होय, औरन कूं किम राखे सोय ॥

कवित्त

काल अगम्य विनाश रहित निर्भय अविकारी ।
ऐसे जी चिद्रूप शुद्ध निर्मल गुणधारी ॥
जगजीवन कूं शरणतास, बिन अपर जु नाहीं ।
मोह कर्म कर सहित, चित्त जिनको जगमांही ॥

अशरण भावना

दोहा

भ्रमत चतुर्गति में सदा, यह संसारी जीव।
सुख पायो कभी नहि, फंदे पड़ो सदीव॥
सर्व जघन्य शरीर रख, क्रम २ मूरत द्रव्य।
अपना कर पूरण कियो, द्रव्य परावर्त लव्य॥
लोकमध्य में उपज के, लोकाकाश प्रमाण।
निज शरीर अपना इयो, क्षेत्र परावर्त जान॥
उत्सर्पिणि अवसर्पिणी, जन्म काल में लेय।
समयाधिक अपनाय कर, कल्पकाल इमिदेय॥
सर्व जघन्य स्थिति धर, समयाधिक से जान।
चारों गति की पर अपर, ग्रैवेयक लों मान॥
स्थिति योग कषाय के, गुणित असंख्यनि जान।
थान तिन्हें अपनायकर, पूरे किये सुजान॥
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भव, भाव क्रम के थान।
तिनकी गणना ना करो, भासे वेद पुराण॥
काल अनंता यों विता, दुख में जग का जीव।
पार कठिनता से लहे, जग दुख पूर्ण अतीव॥

चौपाई

जगत में भ्रमत जीव यह एक, जन्म मरण दुख लहे अनेक।
सुत बंधन दारा परिवार, संगी एक नांहि निरधार॥

कर्मन कूं करता तूं सही, तिनको फलतू भोगे सही ।
तन ममत्व तजि शिव सुख हेत, जतन करत क्यों नाहिं अचेत
कर्म नोकर्म रहत अनूप, रुपातित शुद्ध चिद्रूप ।
ताही में थिरता कर अबै, और विभाव त्याग कर सबै ॥

एकत्वानुप्रेक्षा

अड्लि

कर्म भिन्न अरु क्रिया भिन्न पर मानिये ।
भिन्न आपते देह सदा पुनि जानिये ॥
विपय इन्द्रियादिक एभी पर हैं सदा ।
दारा सुत आदिक अपने नांही कदा ॥

चौपाई

देहमई मै हूं सर्वथा । ऐसी मति धारो मत वृथा ।
वसन समान देह में जीव । तिष्ठत है दुख सहत अतिव ॥
तू सबसेती भिन्न प्रधान । दर्शन ज्ञान चरित मय जान ।
कर्म रहित पुनि शिव आकार । निराकार गुणगण आगार ॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

अड्लि

मांस रुधिर अरु अस्थि मई यह देह है ।
स्त्रवत तास नवद्वार अशुचि को गेह है ।
चर्म लपेटी दीसत है सुन्दर महा ।
तासो रे मन ! प्रीति वृथा ठानत कहां ॥

चौपाई

जा शरीर को लह संयोग । चंदन आदिक द्रव्य मनोज्ञ ।
अति सुगंध सुखदायक जेह । छिन उपजावत है पुनितेह ॥
शुक्र रुधिर तें उत्पति जास । काम सर्प को जाने वास ।
तांसूं प्रीति कहां तूं करे । कछू विवेक न हिरदे धरे ।
सर्व अशुचि कर हित प्रमान । सर्व देह वर्जित गुणवान ।
निराकार पुनि ज्ञान स्वरूप । भज तूं जीव सदा चिद्रूप ॥

इति अशुचि अनुप्रेक्षा

चोपाई

छिद्र सहित नौका में वारि । जैसे आवे उदधि मंझारि ।
तैसे ही भवसागर मांहि । कर्म नीर आवे शक नांहि ॥

दोहा

पंच भेद मिथ्यात है, बारह अव्रत जांन ।
भेद पचीस कषाय के, पंद्रा योग प्रमान ॥

सोरठा

ये सत्तावन भेद आश्रव के भाषै सबै ।
उपजाभत है खेद चहुं गति मे भरमाय के ॥

अडिल्ल

आश्रव ते प्रानी संसार विषै भ्रमे ।
उदधि विषै जिमि काठ नांहि थिरता पमे ॥

या ते आश्रव सकल पूर तज दीजिये।
अविनाशी चिद्रुप ताहि भज लीजिये॥

इति आश्रवानुप्रेक्षा

चौपाइ

आश्रव को निरोध जो होय। संवर नाम कहावे सोय।
दश विधि धर्म गुप्ति पुनि तीन। पंच प्रकार समिति अघहीन

अडिल्ल

अनुप्रेक्षा के बारह भेद सु जानीये।
पुनि दुद्धर बाईस परिषह मानिये॥
चारित्र पंच प्रकार सुधि जानो सही।
सवर के यह भेद कहे संशय नहीं॥

चौपाई

संवर ते भव उदधि मझार। पड़े नहीं जु जीव निरधार।
इष्ट सु पदकूं पावे सोय। यामें संशय नांही कोय॥
दुख सुख जन्म मरणते हीन। शुद्ध आत्मा सदा अदीन।
ताही में निज मन अवधार। भ्रम बुद्धि को कर परिहार॥

इति संवारनुप्रेक्षा

अडिल्ल

रत्नत्रय रूपी पावक सेती सही।
पूरब बांधे कर्म गले संशय नहीं॥

जैसे पावक पवन लगे प्रजले महां।
तैसे व्रत दर्शन आदिक कहनो कहा॥

कवित्त

प्रथम नाम सविपाक अवर अविपाक प्रमानो।
दोय भये निर्जरा सुधि जन उरमें जानो॥
आदि निर्जरा सब जीव के जग के मांही।
दुतिय मुनिन के होय, व्रतादिक ते शकनाहीं॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा

चौपाई

है आकार अनंत प्रदेश, गोचर श्री सर्वज्ञ जिनेश।
मध्य भांगला के निरधार। लोकाकाश तीन प्रकार॥
असंख्यात परदेशी सोय। वात तीन कर वेठित सोय।
शोभित नभ में नखत समान। षट द्रव्य निकट भरो प्रमान
लोक तने बाहिर निरधार। द्रव्य रहित शाश्वतो विचार।
कहो अलोकालोक अनंत। जानत श्री सर्वज्ञ महंत॥
ब्रह्मा विष्णु महेश्वर थोक। काहू ने कीनो नांही लोक।
ना इस करता हरता धनी। स्वय सिद्ध रचना यह बनी॥
त्वचा वृक्ष के ऊपर जेम। वात तीन कर वेठित तेम।
सदा शाश्वतो लोक प्रमान। नानाकार त्रिविधि संठान॥
आकृति डेढ मृदंग समान। जामे इतनो अन्तर जान।
जैसे इनको है आकार। तैसो लोक स्वरूप विचार॥

आकृति डेढ मृदंग समान । जामें इतनो अन्तर जान ।
जैसे इनको है आकार । वैसो लोक स्वरूप विचार ॥
अकृत्रि डेढ़ मृदंग समान । जामें इतनो अन्तर जान ।
सूरज गोल आकार बखान । चौखटो है लोक प्रमान ॥

दोहा

अथवा पांव पसार कर, कटि ऊपर कर धार ।
उन्नत ठाडे पुरुष को, एसो है आकार ॥
तेसो ही आकार है, लोक तनो निरधार ।
थिती उत्पति विनाश युत, संशय नांहि लगार ॥

अडिल्ल

एसो बहु विधि रूप लोक कू जान के ।
निज कारज कूं करो नहीं हित ठान के ॥
तो परिवर्त्तन भ्रम होहु के अति दुखी ।
तातें शांतभाव धर अब हूजे सुखी ॥

लोकानुप्रेक्षा

अडिल्ल

एक निगोद जीव के अंग विषै सही ।
सिद्धन ते अनन्त जीव बसै वहीं ॥
ऐसे हैं सब लोक थावरन कर सदा ।
भरो निरन्तरते संशय नांही कदा ॥

सोरठा

निकस निगोद निरधार त्रस होनो दुर्लभ महा ।
जैसे उदधि मंझार रतन गिरो नहीं पाइये ॥

दोहा

त्रस पर्याय विषै बहुरि, हैं विकल त्रय जीव ।
पचेन्द्रिय होना बहुरि, दुर्लभ है सु अतीव ॥

चौपाइ

पंचेन्द्री में भी पुनिजान । मृग पंछी अहि आदि प्रमान ।
वरते जीव अनेक प्रकार । जिनके नाहीं विवेक लगार ॥

अडिल्ल

पंचेन्द्रिय तिर्यंच थकी पुनि जानिये ।
मनुष्य जन्म लहिवो अति कठिन प्रमानिये ॥
मानुष भव हू पाय गयो पुनि जे सही ।
फेर मनुष्य होनो दुर्लभ संशय नहीं ॥

चौपाई

जैसे वृक्ष महा सुख दाय । भस्म हेत दीनो सु जराय ।
ताही भस्म थकी पुनि सोय । चाहे पुनिसो किमी करहोय ॥
मनुष्य जन्म पायोसी कदा । दुर्लभ आर्य क्षेत्र पुनि तदा ।
उत्तम क्षेत्र लहो जो सही । उत्तम कुल दुर्लभ शक नहीं ॥
उत्तम कुल भी पायो जबै । इन्द्रिय पूरण दुर्लभ तबै ।
इन्द्रिय जो परि पूरण होय । तो संपदा लहै न कोय ॥

यदि धरमें होय जु संपदा । रोग रहित तन दुर्लभ तदा ।
एक एक दुर्लभ महा । सकल मिले तब कहन कहा ॥
इह विधि सब सामग्री पाय । धर्म विषै जो मति नहिं थाय ।
मनुप जनम तो अफल असार लोचन बिन मुख सम निरधार
श्रावक मुनि को धर्म प्रधान । जगत विषै अति दुर्लभ जान ।
मुनि को धम पाय भी सही । आतम ज्ञान दुर्लभ शक नहीं ॥

अडिल्ल

आत्म लाभ ते परम ज्ञान दूजो नहीं ।
आत्म लाभ सम उत्तम सुख नांही कहीं ॥
आत्म लाभ तें और ध्यान नाहीं जानिये।
आत्म लाभ अपर न पद परमानिये ॥
जो बुधिवंत निज आतम ज्ञान सु पाय के ।
और नैर अब बुद्धि करे मति चाय के ॥
चिंतामनि वर रत्न हाथ आवे जबै ।
कांच विषै पुनि प्रीति कहा करि है तबै ॥

वोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा

कवित्त

श्री जिन भाषित धर्म सदा सेवों सुखकारी ।
जा प्रसाद ते श्वान भयो सुख सु ऋद्धीधारी ॥
तीन लोक को नाथ हेत पुनि धर्म हि सेती ।
एसो धर्म पुनित सदा करिये हित खेती ॥

चौपाई

जो दस भेद धर्म पुनिजान । दुर्लभ मुनि गोचर अमलान ।
तेरह भेद सहित सो सही । शिव पथ दायक संशय नांहि ।।

दोहा

भव दुख सेती काढिके, धरे सुशिव पद मांहि ।
सोई उत्तम धर्म है, या में मिथ्या नांहि ।।

अडिल्ल

मोह कर्म ते जे विकलप उपजें सबै ।
मन वच तन कर त्याग कीजिये तिन तबै ।।
शुद्ध आत्मा विषै जु बुद्धि लगाइये ।
धर्म नाम जो संत लख कर गाइये ।।

चौपाई

आतम ध्यान धर्म उत्कृष्ट । आतम ध्यान तप परम गरिष्ट ।
यातें और सकल तज नेह । निज स्वरूप ही चित्त को देह ।।

धर्मानुप्रेक्षा

दोहा

इह बिधि बारह भावना, भाई जीवक राय ।
भव तन भागे विरक्त पुनि, चित्त भयो अधि काय ।।

१५ (क्षु० मनोहरलालजी वर्णी कृत)

नमूं नमूं आनन्द घन है विराग विज्ञान ।
वमूं वमूं भव पीर सव, करूं सुखामृतपान ॥१॥

हम सव चाहें जग के जीव, दुःख न हो सुख रहे सदीव ।
सुख के अर्थ भरयौ श्रमभार, सुख नहीं पायो कवहुं लगार ।

(१) अनित्य भावना

तन धन पुत्र मित्र परिवार, परणति इनकी इनके लार ।
मैं चाहूँ मो माफिक रहै, सोचो फिर कैसे सुख लहै ॥२॥

(२) अशरण भावना

तन धन गृहसुत किंकर नार, इनसे सुख जीवन भ्रमधार ।
इनको दास न वन सुन भ्रात, कर्म उदै जीवन सुख पात ॥

(३) संसार भावना

हो न कवहुं दुःख वह सुखसार, इन्द्रिय भोग है प्रकट असार
रंक राव सव तृष्णागार, सो असार सव विध संसार ॥५॥

(४) एकत्व भावना

वन्धु मित्र जाने सुखकार, तेरो सुख तुझ मांहि अपार ।
सो भूल्यौ कीनौ विधिवन्ध, तातैं विपदा को सम्वन्ध ॥७॥

(५) अन्यत्व भावना

जो तू यह तन तजकर जाय, तेरो तन फिर नांहि कहाय ।
ऐसे इस तन से तू भिन्न, तो न विराने होय अभिन्न ॥७॥

(६) अशुचि भावना

खून पीव मल मूत्र मलीन, ऐसे तनसे को रति कीन ।
तेरो तो शुचि ज्ञान शरीर, परम शान्ति अमृत रस सीर ॥

(७) आस्रव भावना

मन वच तन के चंचल होत, होत विचल यह आतम ज्योत
सो ही विधि को आवन द्वार, तातै चंचलता निरवार ॥९॥

(८) संवर भावना

कर्म रुकै कारज बन आय, ताको भाई एक उपाय ।
शुद्ध निजातम परिणति देख, यही कोटि शास्त्रनिको लेख ॥

(९) निर्जरा भावना

जैसी रुके विषय की चाह, शान्त होय सब तृष्णादाह ।
पूर्वबद्ध विधि होय अबन्ध, हो अनन्त सुख को सम्बन्ध ॥

(१०) लोक भावना

तीन लोक के सब ही थान, उपज्यौ मर्यौ भयौ दुखखान ।
नानाविध इन्द्रिय सुख लह्यो, तो भी टुक संतोष न गह्यो ॥

(११) बोधि दुर्लभ भावना

मिलें मिलें सुरपति के भोग, कंचन कामिनि को संयोग ।
विस्मय नहीं सुलभ सब जान, दुर्लभ है स्वातम सरधान ॥

(१२) धर्म भावना

नहीं राग नहि द्वेष न मोह, नहो विविध कल्पन संदोह ।
तत्त्व भासना केवल होय, सो ही धर्म सत्य सुख जोय ॥

को मैं आया किधरसे, जाउंगा किस ठौर ।
चितवत चितवत एक दिन, पालूंगा शिव ठौर ॥१५॥

आत्म प्रगट लखते सभी विश्व प्रगट हूं होय ।
पै निज आनन्द लीनता, हर-न सके टुक होय ॥१६॥

है स्वतन्त्र विज्ञानमय, वीतराग भगवान ।
वसो 'मनोहर' के हृदय, गले मोहकी शान ॥१७॥

१६

(१) अनित्य भावना

(कुन्डलिया)

अपनी अपनी वार सर्व प्राणी जु अवशि मर जावैं ।
अन्य समस्त पदारथ जगमैं कोऊ थिर न रहावैं ॥
ये परवस्तु मोहवश मनमैं रागरु द्वेष बढ़ावैं ।
तातैं परमैं राग रोष तज जो उत्तम पद पावैं ॥१॥

(२) अशरण भावना

कोई न राखन हार जीव के जब अन्तिम दिन आवैं ।
औषध यंत्र मन्त्र की शरना गहे भि कोई न बचावैं ॥

रत्न त्रय धर्महि इक सरन। यही सर्व जन गावै।
तातैं सबकी सरन छार गहु धर्म मुक्ति पद पावैं ॥२॥

३ संसार भावना

सब जग देख्यो छान, सबहि प्राणी अति दुःख जु पावै।
कर्म बली नट चारूं गति मैं, बहु विध नाच नचावै॥
गद विन तन पावैं तो धन नहिं, धन पा तुरत नसावै।
तातैं भवतन-भोग-राग तज शिवमग लहि शिव जावै ॥३॥

(४) एकत्व भावना

साथी सगा न कोइ मरन कर जब परभव मैं जावै।
मात पिता सुत दारा प्रिय जन कोइ न साथी आवै॥
पुण्य पाप या धर्महि साथी, तन धन यहीं रहावै।
सुख दुःख सबही इकला भुगते इकला चहुगति धावै ॥४॥

(५) अन्यत्व भावना

पर हैं परिजन लोय होय नहिं वस्तु जाति कुल थारा।
मोह कर्मवश परको अपने समझै सोइ गंवारा॥
तू है दर्शन ज्ञान मयी चैतन्य आतमा न्यारा।
तातैं पर जड़ त्याग आप गहि जो होवै निस्तारा ॥५॥

(६) अशुचि भावना

अवर नहीं घिन गेह देहसम अशुचि पदारथ कोई।
अस्थिमांस मलमूत्र अशुचि सब याही तनतैं होई॥

चन्दन केशर आदि वस्तु तन परसत शुचिता खोवै ।
ऐसे तनमैं राचि रह्यो, तब कैसे शिव मग जोवै ॥६॥

(७) आस्रव भावना

गीता

नहीं सुख या जीव को यह कर्म आस्रव नित करै ॥
मन वचन तन के योगतैं नित शुभ अशुभ कर्म हि धरै ।
तिन करम के बंधन भये तिन उदयतैं सुख दुख लह्यो ।
तातैं मिथ्यात प्रमाद आदिक तजहुं जातैं शिव गह्यो ॥७॥

(८) संवर भावना

रुकै तवही कर्म आस्रव किये संवर चावसों ।
अरु महाव्रत पंच समिति गुप्ति तीन दश वृष भावसों ॥
परिषह सहन अरु भावना चित चिंतये नित ही सही ।
तातैं जु होवे कर्म सवर यही जिन धुनि मैं कही ॥८॥

(९) निर्जरा भावना

पैठे पूरव चोर कर्म सब रहे देह घर माहीं ।
वारह विध तप अग्नि जलाये कर्मचोर जल जांही ॥
उदय भोग सविपाक निर्जरा पकै आम तरु डाली ।
तपसों ह्वै अविपाक पकावै पालविषै जिम माली ॥९॥

सोरठा

धार निर्जरा सार सार संवर पूर्वक जो हो है ।
यही निर्जरा सार कही अविपाक निर्जरा सो है ॥

उदय भये फल देय निर्जरै सो सविपाक कहावै ।
तासों जियका काज न सरि है सो सब व्यर्थ हि जावै ॥१०॥

(१०) लोक भावना

भरमत है बिन ज्ञान लोक में कभी न हित उपजाया ।
पंच परावृत करते करते सम्यक ज्ञान न पाया ॥
अब तू मोह कर्म को हरकर तज सब जग की आसा ।
जिन पद ध्याय लोक शिर उपर करले निज थिर वासा ॥

(११) बोध दुर्लभ भावना

एक जथारथ ज्ञान सु दुर्लभ है जग मै अधिकाना ।
थावर त्रस दुर्लभ निगोदतैं नरतन संगति पाना ॥
कुल श्रावक रत्नत्रय दुर्लभ अरु षष्ठम गुन थाना ।
सबतैं दुर्लभ आतम ज्ञान सु जो जग मांहि प्रधाना ॥१२॥

(१२) धर्म भावना

धर्म सकल सुख दैन रैन दिन भवि जीवन मन भाता ।
षट् दर्शन ईसा मूसा महमह का मत न सुहाता ॥
वीतराग सर्वज्ञ देव गुरु धर्म अहिंसा जानो ।
अनेकांत सिद्धान्त सप्त तत्वन को कर सरधानो ॥१३॥

दोहा

भूधर कविकृत भावना, द्वादश जग परधान ।
तापर इक अल्पज्ञ ने छंद रचे हित जान ॥१४॥

१७ वैराग्य भावना

(पं० यति नैनसुखदास कृत)

दोहा

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जगमांहि ।
त्यों चक्री नृप सुख करैं, धर्म बिसारै नाहिं ॥

जोगीरासा छंद

इह विधि राज करैं नरनायक, भोगै पुण्य विशालो ।
सुख सागर में रमत निरंतर, जात न जान्यो कालो ।
एक दिवस शुभ कर्म संयोगे, क्षेमंकर मुनि वंदे ।
देखे श्री गरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे ॥२॥

तीन प्रदक्षिण दे शिरनायो, करि पूजा थुति कीनी ।
साधु समीप विनय करि बैठ्यो, चरणन में दिठि दीनी ।
गुरू उपदेश्यो धर्म शिरोमणि, सुन राजा वैरागे ।
राज रमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे ॥३॥

मुनि सूरज कथनी किरणावली, लगत भरम बुधि भागी ।
भवतन भोग स्वरूप विचार्यो, परम धरम अनुरागी ॥
इह संसार महा वन भीतर, भ्रमते ओर न आवै ।
जामन मरन जरा दौं दाझै, जीव महा दुःख पावै ॥४॥

कबहूं जाय नरक थिति भुजैं, छेदन भेदन भारी ।
कब हूं पशु परजाय धरै तहँ, वध बंधन भयकारी ॥

सुरगति मैं परसंपति देखे, राग उदय दुख होई ।
मानुष योनि अनेक विपति मय, सर्व सुखी नहिं कोई ॥५॥
कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी ।
कोई दीन दरिद्री विगूचे, कोई तन के रोगी ॥
किसही घर कलिहारी नारी कै वैरी सम भाई ।
किसही के दुःख बहिर दिखै, किस ही उर दुचिताई ॥६॥
कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै ।
खोटी संतति सौं दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवै ।
पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहि सदा सुख साता ।
यह जगवास जथारथ-देखे, सब दिखै दुख दाता ॥७॥
जो संसार विषै सुख होता, तिर्थंकर क्यों त्यागै ।
काहे को शिव साधन करते, संजमसौं अनुरागै ॥
देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई ।
सागर के जलसौं शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ॥८॥
सात कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै ।
अन्तर देखत या सम जगमैं, अवर अपावन को है ।
नवमल द्वार स्रवें निशिवासर, नाम लिये घिन आवै ।
व्याधि उपाधि अनेक जहां तहं, कौन सुधी सुख पावै ॥९॥
पोषत तो दुख दोष करै अति, सोपत सुख उपजावै ।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै ॥

राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महा तप कीजै, यामैं सार यही है ॥१०॥

भोग बुरे भव रोग बढ़ावैं, वैरी हैं जग जीके।
वेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागैं नीके॥
वज्र अग्नि विष से विषधर से, ये अधिके दुखदाई।
धर्म रतन के चोर चपल अति, दुर्गति पंथ सहाई॥११॥

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानै।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानै॥
ज्यों ज्यों भोग संयोग मनोहर, मनवांछित जन पावै।
तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंकै, लहर जहर की आवै॥१२॥

मैं चक्री पद पाय निरंतर, भोगे भोग घनेरे।
तौ भी तनक भये नहिं पूरन, भोग मनोरथ मेरे॥
राज समाज महा अघकारण, वैर बढ़ावन हारा।
वेश्या सम लछमी अति चंचल, याका कौन पत्यारा॥१३॥

मोह महा रिपु वैर विचारयो, जग जिय संकट डारे।
नरकारागृह वनिता वेड़ी, परिजन जन रखवारे॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण तप, ये जिय के हितकारी।
ये ही सार असार और सब यह चक्री चितधारी॥१४॥

छोड़े चौदह रत्न नवों निधि, अरु छोड़े संग साथी।
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥

इत्यादिक संपति बहुतेरी, जीरणतृण सम त्यागी ।
नीति विचार नियोगी सुत को, राज दियो बड भागी ॥
होय निःशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे ।
श्री गुरु चरण धरी जिन मुद्रा, पंच महा व्रत धारे ॥
धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरजधारी ।
ऐसी संपति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी ॥१६॥

दोहा

परिग्रह पोट उतार सब, लीनों चारित पंथ ।
निज स्वभाव मै थिर भये, वज्रनाभि निरग्रंथ ॥

षोड़श कारण भावना

१८ (श्री ज्ञानचद्रजी कवि रचित)

षोडश कारण के सवैया

१ दर्शन विशुद्धि

दर्शन शुद्धि न होवत ज्यों लग, त्यों लग जीव मिथ्यात कहावे
काल अनंत फिरे भव में महा दुःखन को कहिं पार न पावे
दोष पचीश रहीत गुणाम्बुधि सम्यग्दर्शन शुद्ध ठरावे ।
ज्ञान कहे नर सोहि बड़ो जो मिथ्यात तजी जिन मारग ध्यावे

२ विनय सम्पन्नत्व

देव तथा गुरु राय तथा तप संयम शील व्रतादिक धारी।
पाप के हारक कामके सारक शल्य निवारक कर्म निवारी ॥
धर्म के धीर कषाय के भेदक पंच प्रकार संसार के नारी।
ज्ञान कहे विनयो सुखकारक भाव धरी मन राखो विचारी ॥

३ शील

शील सदा सुख कारक है अतिचार विवर्जित निर्मल कीजे।
दानव देव करे तस सेव विषाद न भूत पिशाच पतीजे।
शील बड़ो जग में हथिआर जु शील कु उपमा काहे कु दीजे
ज्ञान कहे नहि शील बराबर ताते सदा दृढ शील धरीजे ॥

४ अभिक्षण ज्ञानोपयोग

ज्ञान सदा जिनराज को भाषित आलस छोड़ि पढे जु पढावे
द्वादश दोऊ अनेकहु भेदसु नाम मति श्रत पंचम पावे।
चारह वेद निरंतर भाषित ज्ञान अभिक्षण शुद्ध कहावे।
ज्ञान कहे श्रुत भेद अनेक जु लोक अलोक प्रगट दिखावे।

५ संवेग

मातन तातन पुत्र कलत्रन संपति सज्जन ए सब खोटो।
मंदिर सुन्दर काय सखा सबको इह को हम अन्तर मोटो ॥
भाव कुभाव धरी मन भेदत नाहीं संवेग पदारथ छोटो।
ज्ञान कहे शिव साधन को जिम शाह को काम करे जो वणोटो

६ त्याग

पात्र चतुर्विध देख अनूपम दान चतुर्विध भाव सु दीजे।
शक्ति समान अभ्यागत कू निज आदर सू प्रणिपत्य करीजे
देवत जे नर दान सुपात्रहि तास अनेकह कारण सीजे।
व लत ज्ञान दई शुभ दान जु भोग सु भूमि महासुख लीजे

७ तप

कर्म कठोर गिरावन कूं निज शक्ति समान उपोषण कीजे।
बारह भेद तपी तप सुन्दर पाप जलाजली काहे न दीजे।
भाव धरी तप घोर करी नर जन्म सदा फल काहे न लीजे।
ज्ञान कहे तप जे नर भावत ताके अनेकह पातिक छीजे॥

८ साधु समाधि

साधु समाधि करो नर भाविक पुन्य बड़ो उपजे अब भाजे।
साधकी संगति धर्म के कारण भक्ति करे परमारथ छाजे॥
साधु समाधि करे भव छूटत कीर्ती घटा त्रयलोक में गाजे।
ज्ञान कहे जग साधु बडे गिरी श्रंग गुफा बीच जाय विराजे॥

९ वैयावृक्तिकरण

कर्म के योग विथा उदये मुनि पुंगव कूतस भेषज दीजे।
तपि कफा नस तास भगंदर ताप कु शूल महागद छीजे॥
भोजन साथ बनाय के औषध पथ्य कुपथ्य विचार के कीजे
ज्ञान कहे नित ऐसी वैयावृत जो हि करे तम देव पति जे॥

१० अर्हत् भक्ति

देव सदा अरिहंत भजो जिही दोष अठार किया अति दुरा
पाप पखाल भये अति निर्मल कर्म कठोर कीये सब चूरा ॥
दिव्य अनंत चतुष्टय शोभित घोर मिथ्याव निवारण शूरा
ज्ञान कहे जिनराज अराधो निरन्तर जे गुण मंदिर पूरा ॥

११ आचार्य भक्ति

देव तहि उपदेश अनेकसु आप सदा परमारथ धारी ।
देश विदेश विहार करे दश धर्म धरे भव पार उतारी ॥
ऐसे आचारज भाव धरी भज जो शिव चाहत कर्म निवारी ।
ज्ञान कहे जिन भक्ति किनो नर देखत हो मन मांहि विचारा

१२ वहुश्रुत भक्ति

आगम छंद पुराण पढ़ावत साहित्य तर्क वितर्क वखाने ।
काव्य कथा नव नाटक चूडत जोतिप वैदक शास्त्र प्रमाणे ॥
ऐसे वहुश्रुत साधु मुनीश्वर जो मनमें दोउ भावज आणे ।
ज्ञान कहे तस पाय नमूं श्रुत पार गये मन गर्व न आणे ॥

१३ प्रवचन भक्ति

द्वादश अंग उपांग सदा गम ताकि निरन्तर भक्ति कराये ।
वेद अनूपम चार कहे तस अर्थ भले मन मांहि ठराये ॥
पढ़ो वहु भाव लिखो निज अक्षर भक्ति करा वड़ पुंज रचाये
ज्ञान कहे जिन आगम भक्ति करो सद् वुद्धि वहु शुभ पाये

१४ आवश्यक परिहाणि

भाव धरे समता सब जीवसु स्तोत्र पढ़े सुखते मनहारी।
कायोत्सर्ग करे मन प्रीतसु वंदन देव तणो भव हारी।
ध्यान धरी मद दूर करी दोउ वेर करे पडि कम्मण भारी
ज्ञान कहे मुनि सो धनवंत जु दर्शन ज्ञान चरित्र उधारी ॥

१५ मार्ग प्रभावना

जिन पूजा रचे परमारथसु जिन आगल नृत्य महोत्सव ठाने
गावत गीत बजावत ढ़ोल मृंदग के नाद सुथांग बखाने ॥
संघ प्रतिष्ठा रचे जसजातर सद् गुरु कूं सामोकर आने।
ज्ञान कहे जिन मार्गप्रभावन भाग्य विशेष सुजाणहि आने ॥

१६ "प्रवचनवत्सलत्व"

गौरव भाव धरी मनसू मुनि पुंगव को नित वत्सल कीजे।
शील के धारक भव्य के तारक धातासु निरंतर स्नेह धरीजे
धेनु यथा निज वालक कूं अपनेजिय छूट न और पतीजे।
ज्ञान कहे भवि लोक सुनो जिन वत्सल भाव धरे अंग छीजे

१७ आशिर्वाद

सुन्दर षोड़स कारण भावन निर्मल चित सुधार के धारे।
कर्म अनेक हने अति दुर्धर जन्म जरा भय मृत्यु निवारे ॥
दुःख दरिद्र विपत्त हरे भव सागर को पर पार उतारे।
ज्ञान कहे इह षोड़श कारण कर्म निवारण सिद्धसु ठारे ॥

'दश लक्षण धर्म : भावना

उत्तम क्षमा

सोरठा

पीड़ें दुष्ट अनेक, बांध मार बहु विधि करें।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे पीतमा ॥

उत्तम मार्दव

ज्ञान महा विषरूप, करे नीच गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा ॥

उत्तम आर्जव

कपट न कीजे कोय चोरन के पुर ना वसै।
सरल स्वभावी होय ताके घर बहु संपदा ॥

उत्तम सत्य

कठिन वचन मत बोल, पर निंदा और झूठतज।
सांच जवाहर खोल सत्य वादी जग में सुखी ॥

उत्तम शौच

धर हिरदै सन्तोष करहु तपस्या देह सों।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ो संसार में ॥

उत्तम संयम

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो ।
संयम रतन संभाल विषय चोर वहु फिरत हैं ॥

उत्तम तप

तप चाहे सुरराय कर्म शिखर को वज्र है ।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करे निज सकतिसम ॥

उत्तम त्याग

दान चार परकार चार संघ को दीजिये ।
धन विजली उनहार नर, भव लाहो लीजिये ॥

चौपाई

उत्तम त्याग करो जगसारा, औषधि शास्त्र अभय अहारा ।
निहचै राग द्वेष निखारै ज्ञाता दोनों दान संभारे ॥

उत्तम आकिंचन्य

परिग्रह चौवीस भेद, त्याग करे मुनि राजजे ।
तृष्णा भाव उच्छेद, घटती जाय घटाइये ॥

उत्तम ब्रह्मचर्य

शील वाड़ नौ राख ब्रह्मभाव अन्तर लखो ।
करि दोनो अभिलाख करहु सफल नरभव सदा ॥

मेरी भावना

२० (पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत)

जिसने रागद्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर जिन, हरि हर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह, चित्त उसी में लीन रहो ॥१॥

विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य भाव धन रखते हैं,
निज-परके हित–साधन में जो निश–दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या विना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के दुःख समूह को हरते हैं ॥२॥

रहे सदा सत्संग उन्हींका ध्यान उन्हीं का नित्य रहे,
उनही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊं किसी जीवको, झूठ कभी नहि कहा करूं,
परधन वनिता पर न लुभाऊं सन्तोपामृत पिया करूं ॥३॥

अहंकार का भाव न रक्खूं नहीं किसी पर क्रोध करूं,
देख दूसरों की वढ़ती को कभी न ईर्षा–भाव धरूं।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल-सत्य व्यवहार करूं,
बने जहां तक इस जीवन में औरों का उपकार करूं ॥४॥

मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवों पर मेरे उरसे करुणा स्रोत वहे।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग रतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य भाव रक्खूं में उनपर, ऐसी परिणति हो जावे ॥५॥

गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहां तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।
होऊं नहीं कृतघ्न कभी मे, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥६॥

कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊं या मृत्यु आज ही आजावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥७॥

होकर सुख में मग्न न फूलें, दुख में कभी न घबरावें,
पर्वत-नदी-श्मशान-भयानक अटवी से नहीं भय खावे।
रहे अडोल-अकंप निरन्तर यह मन दृढतर बन जावे,
इष्टवियोग-अनिष्टयोग में सहन शीलता दिखलावे ॥८॥

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे,
वैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।
घर घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावे,
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना मनुज-जन्म फल सब पावे

ईति-भीति व्यापे नहि जग में, वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म निष्ट होकर राजा भी न्याय प्रजा का किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगत में फैल सर्व हित किया करे ॥१०॥
फैले प्रेम परस्पर जग में, मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक कठोर शब्द नहिं कोई मुख से कहा करे।
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से देशोंन्नति रत रहा करे,
वस्तु स्वरूप विचार खुशी से सब दुख-संकट सहा करे ॥

॥ भावना ॥

२१ (श्री ज्योतिप्रसाद कृत)

भावना दिन रात मेरी, सब सुखी संसार हो।
सत्य-संयम-शील का, व्यवहार घर घर वार हो ॥टेक॥
धर्म का परचार हो, अरु देश का उद्धार हो।
और ये बिगड़ा हुआ, भारत चमन गुलजार हो ॥१॥
ज्ञान के अभ्यास से, जीवों का पूर्ण विकाश हो।
धर्म के परचार से, हिंसा का जग से ह्रास हो ॥२॥
शान्ति अरु आनन्द का, हर एक घर में वास हो।
वीर-वाणी पर सभी, संसार का विश्वास हो ॥३॥

रोग अरु भय शोक होवें, दूर, सब परमात्मा ।
कर सके कल्याण ज्योति, सब जगत की आत्मा ॥४॥

मेरी भावना

२२ (पं० बारेलालजी कृत)

भावना दिन रात मेरी, सब सुखी संसार हो ।
मिथ्यात्व राग विद्वेष का नित आत्म से संहार हो ॥
न्याय मारग में जगत, निर्भीकता से रक्त हो ।
ज्ञान अरू चारित्र उन्नति, में सदा आसक्त हो ॥
वीर वाणी पर सभी संसार का विश्वास हो ।
जिन धर्म के माहात्म्य से, प्रत्येक का स्वविकास हो ॥
रोग भय दुर्भिक्ष का, जग से सदा परिहार हो ।
मोह मद मात्सर्य नश, अति प्रेम का संचार हो ॥
शान्ति अरु आनन्द का, हर एक घर में वास हो ।
मैत्री–प्रमोद माध्यस्थ करूणा, नित्य इन सुविचार हो ।
रूढियां पुरानी व्याप्त है, उनका सदा संहार हो ।
अकलंक से हो वीर 'बारे' जगत का उद्धार हो ॥

(२३) क्षमा भावना

क्षमा करता सकल जीव को, क्षमा करना सकल मुझको ।
किया अपराध कुछ मैंने, तुम्हारे जान अनजाने ॥१॥
सकल संग मित्रता मुझको, किसी से वैर नहीं क्षण को ।
है यह भावना मेरी, जिनेश्वर हो कृपा तेरी ॥२॥
... त्रययोग से छेदन, रहा हो भाव में वेदन ।
... को त्यागता हूं मैं, नहीं कुछ वैर रहे मुझ में ॥३॥
... भव वैर जो तुम से, रहा हो भाव दूषित से ।
उदय बिन नाश हो जावे, दयामय भाव मुझ होवे ॥४॥
क्षमा करना, क्षमा करना, न दिल में रोष को धरना ।
शुद्ध दिल से क्षमाता हूं, क्षमा भावों से झुकता हूँ ॥५॥
क्षमा का श्रोत बरसावो, वीर का धर्म दरशावो ।
क्षमा भूषण गुणी जनका, कहे "चुन्नी" धरम निजका ॥६॥

निरन्तर चिन्तनीय भावना

२४ (प० दीपचन्दजी कृत)

मैं सत् चित् आनन्द रूप हूँ ज्ञाता दृष्ठा सिद्ध समान ।
द्रव्य भाव नो कर्म बिना हूं अमूर्तीक निर्मल गुण खान ॥

यद्यपि द्रव्य शक्ति से हूँ इम पै अनादि विधि बंध विधान।
लख चौरासी रङ्ग भूमि में, नाचत पर में आपा मान।।
सद्गुरू देव धर्म बिन जग में हितू न कोई किसी का जान
पुत्र कलत्र मित्र गृह सम्पति, ये मम मोह कल्पना मान।
इम विचार निज रूप चितारै पावै सम्यक् बोधि महान।
पुनिकर नष्ट अष्ट विधि पावें, शीघ्र 'दीप' अविचल निर्वा

२५ (प० धानतरायजी कृत)

समाधि मरण भावना

गौतम स्वामी बन्दौ नामी मरण समाधि भला है।
मैं कब पाऊं निशदिन ध्याऊं गाऊं वचन कला है।।
देव धर्म गुरु प्रीति महादृढ़ सात व्यसन नहीं जाने।
त्यागि बाईस अभक्ष संयमी बारह व्रत नित ठाने।।१।।
चक्की चूली उखरी बुहारी पानी त्रस ना विरोधे।
बनिज करे पर द्रव्य हरे नहीं, छहों करम इम सोधे।।
पूजा शास्त्र गुरुन की सेवा, संयम तप चहुं दानी।
पर उपकारी अल्प अहारी सामायिक विधि ज्ञानी।।२।।
जाप जपै तिहुं योग धरे दृढ़ तनु की ममता टारे।
अन्त-समय वैराग्य सम्हारे ध्यान समाधि विचारे।।

आग लगे अरु नाव जब डूबै धर्म विघन जब आये ।
चार प्रकार अहार त्यागि के मन्त्र सुमन में ध्यावे ॥३॥

रोग असाध्य जरा बहु देखे कारण और निहारै ।
बात बड़ी है जो बनि आवे भार भवन को डारे ॥
जो न बने तो घर में रह करि सब सों होय निराला ।
मात पिता सुत त्रिय को सोंपे निज परिग्रह इहि काला

कुछ चैत्यालय कुछ श्रावक जन कुछ दुखिया धन देई ।
क्षमा क्षमा सब ही सो कहिके मन की शल्य हनेई ॥
शत्रुन सों मिल निज कर जोरे मैं बहु करी है बुराई ।
तुमसे प्रीतम को दुख दीने ते सब बकसो भाई ॥५॥

धन धरती जो मुख सो मांगे सो सब दे सन्तोषै ।
छहों काय के प्रानी ऊपर करुणा भाव विशेषै ॥
ऊंच नीच घर बैठ जगह इक कुछ भोजन कुछ पयले ।
दूध धारी क्रम क्रम तज के छाछ अहार गहेले ॥६॥

छाछ त्यागि के पानी राखे पानि तजि संथारा ।
भूमि मांहि थिर आसन मांड़े साधर्मी ढिंग प्यारा ॥
जब तुम जानो यह न जपै है तब जिनवाणी पढ़िये ।
यों कहि मौन लियो सन्यासी पंच परम पद लहिये ॥

चार आराधन मन में ध्यावै बाहर भावन भावे ।
दश लक्षण मम धर्म विचारे रत्नत्रय मन ल्यावे ॥

पैंतिस सोलह षटपन चारों दुइ इक वरन विचारे ।
काया तेरी दुख की ढेरी ज्ञान मई तू सारे ॥८॥

अजर अमर निज गुणसों पूरे परमानन्द सुभावे ।
आनन्द कन्द चिदानन्द साहव तीन जगतपति ध्यावे ॥

क्षुधा तृषादिक होई परिषह सहे भाव सम राखे ।
अतीचार पांचों सब त्यागे ज्ञान सुधारस चाखे ॥

हाड़ मांस सब सूख जाय जब धरम लीन तन त्यागे ।
अद्भुत पुण्य उपाय सुरग में सेज उठै ज्यों जागे ।

तहां ते आवे शिव पद पावें विलसे सुक्ख अनन्तो ।
'द्यानत' यह गति होय हमारी जैन धरम जयवन्तो ॥

---

२६ वृहद्–आलोचन भावना

(१)

श्री वर्द्धमान परमात्मन्, पूज्यदेव,
तेरे सदा युगल पाद सरोज पूजूं ।
आत्मीय वा पर विशुद्ध निमित्त से मैं,
आलोचना सकल सौख्यकरी कहूं हूं ॥

(२)

संसार में भ्रमरहा चिरकाल से मैं,
मिथ्यात्व के वश हुआ निजरूप भूला।
पै कर्मबंध – अवमर्दक – बोधि लाभ,
हा ! आजलों नहिं हुआ मुझको कभी भी ॥

(३)

मैंने भव–भ्रमण को करते हुए हा !
आराधना की नहीं जिनधर्म की भी।
जिसके बिना सतत दुःख अनन्तवार,
भोगे अहो नहिं पता जिसका मुझे भी ॥

(४)

संसार में भ्रमण को करते हुए ही,
हा मृत्यु के दुख सहे जिसका न पार।
सर्वज्ञ देव बिन तो उनकी कभी भी,
जानी न जाय गणसा इस लोक बीच ॥

(५)

जो पाप के फल सदैव निगोद बीच,
छयासठ सहस्र त्रय सौ छत्तीसवार।
मैंने किये मरण हा; नित बार बार,
अन्तर्मुहूर्त लघुकाल विषें सदा हो ॥

(६)

अस्सी सु साठ अरु चालिस क्षुद्र जन्म;
कीने मुहूर्त्त इक में विकल त्रयों में ।
चौबीस क्षुद्र-भव तो पंचेन्द्रियों में;
कीने, तथापि कुछ याद रही मुझे ना ॥

(७)

हां, क्रोध को कर परस्पर जीव सारे:
पाते भयानक सुनारक दुःख को हैं ।
यों जानभी अधम चित्त, न धर्म सेवे,
हा; कष्ट कौन बढकर इससे मुझे है ॥

(८)

माता-पिता, स्वजन, बंधु सुमित्र भाई,
कोई न साथ जग में चलता कभी है ।
संसार में भ्रम रहा चिरकाल से मैं,
साथी कभी न जग में कोई हुआ है ॥

(९)

होती विनाश जब आयु मनुष्य की है,
तो आयुदान करने न समर्थ कोई ।
देवेन्द्र; नाग, धरणेन्द्र, नृपेन्द्र हो, या,
हो औषधादि मणि-मंत्र सुजंत्र तंत्र ॥

(१०)

मैंने विशुद्ध परिणाम सुयोग से ये,
श्री जैनका परम-पावन मार्ग पाया ।
प्रत्येक ही समयमें करके प्रयत्न,
मानुष्य जन्म यह सार्थक, तात, कीजे ॥

(११)

सम्यक्त्व शुद्ध गुण के प्रति पक्ष जेते,
मिथ्यात्व भेद जिन आगममें बताये ।
श्रद्धान जो यदि किया अज्ञान से तो,
मिथ्या स्वरूप मम पाप प्रभो सभी हों ॥

(१२)

जुआ शराब, पल-भक्षण आदि सातों,
सेये सदा व्यसन, हा ! जिनदेव, मैंने ।
हा, त्याग भी नहीं किया अबलों कभी मैं,
मिथ्या स्वरूप मम पार प्रभो, सभी हों ।

(१३)

जेते अणुव्रत, महाव्रत शीलभेद,
मैंने लिए, गुरु दिए, प्रभु आजलों सो।
जो जो विराधित किये, उनमें सदाही,
मिथ्या स्वरूप मम पाप प्रभो, सभी ह ॥

(१४)

नित्ये तरादि छह-धातु में सात- सात,
छै लाख हैं विकल में, दश लाख-वृक्ष।
है-चार लाख, सुर नारक, औ पशूके,
चौदा सु लाख नर योनि विषे-कहे हैं ॥

(१५)

चौरासि लाख इन योनिन में सुजीव,
घूमे सदा निज स्वरुप विशुद्ध भूला।
अज्ञान से कर सका न दया उन्हों पै,
मिथ्या स्वरुप-मम पाप प्रभो सभी हों ॥

(१६)

भू, शंख आदि त्रस थावर जीव जेते,
नाना स्वरूपमय आगम में बताये।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥

(१७)

चारित्र दोष जितने मैंने किए हों,
या होगई कुछ व्रतादिका में बुराई।
सामायिकादि व्रत मे दश धर्म में या;
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥

(१८)

जे फूल, वेलि, फल, पत्र विनाशकीने,
स्नानादि या विन छने जल से, जु कीनें ।
याकी विराधन सुधोवन आदि से मैं,
सो वे, समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥

(१९)

पाला न शील तप संयम आदि मैंने,
धारी क्षमा विनय आदि न अल्प मैंने ।
हा ! भावना तक नहीं कुछ भी कभी की,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥

(२०)

हा, कन्द मूल फल आदि सचित खाए,
औ, रात्रि भोजन किया सुख-मान मैंने ।
अजानसे इस तरा वहु पाप कीने,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥

(२१)

सत्पात्र-दान, जिन-पूजन, देव, तेरी,
कीनी, कभी न गमनादिक शुद्धि मैंने ।
हा, भावना तक कभी मनमें न आई,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवे ॥

(२२)

आरम्भ संगवश हो वहु पाप कीने,
होके प्रमादवश, जीव विनाश कीने।
आर्त्तादि ध्यान धर पाप सदा कमाया,
सो, वे समस्त मम दुस्कृत दूर होवें॥

(२३)

हा, ढाई द्वीप सम्बन्धि–त्रिकालवर्त्ती,
संसार-तारक जिनेश्वरदेव की मैं।
आराधना कर सका नहि स्वप्न में भी,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें॥

(२४)

अर्हन्त सिद्ध अरु सूरिसु पाठकों का;
औ, सर्व साधुयुत श्री परमेष्ठियों का।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें।

(२५)

जैनेन्द्र–वाणि, प्रतिविम्ब सु जैनधर्म;
या कृत्रिमादि जिनविम्ब स्वरूप का मैं।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें।

(२६)

सम्यक्त ज्ञान व्रतके जिनदेव ने जे,
हां; आठ आठ अरु पांचसु भेद गाये।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें।।

(२७)

जो पांच ज्ञान जिन आगम में बताये,
सत्यार्थ अर्थ तिनका नहिं जान मैंने।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें ।।

(२८)

हां, द्वादशांग श्रुत के जितने सुभेद,
तीर्थेश ने परम पावन हैं बताये ।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें ।।

(२९)

जे पंच इन्द्रिय-जयी निर्ग्रन्थ रूप,
पाले सहस्त्र दश आठ जु शील भेद ।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें ।।

(३०)

जो लोक में जनकके सम हैं बताये,
वे ऋद्धि प्राप्त गुरुवर्य गणेशवर्ग।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें ॥

(३१)

निर्ग्रन्थ साधु अरु श्रावक जे कहावें,
आर्या तथा गुणवती गृहस्वामिनीजे।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत दूर होवें ॥

(३२)

जे देव; नर्क, नर तिर्यग् योनि-जीव,
नाना प्रभेदमय जो छह कायके हैं।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवें ॥

(३३)

जो क्रोध, मान छल लोभ रु राग द्वेप,
मोह-स्वरुप बन भाव अशुद्ध राखे।
अज्ञान लीन बन के हा, पाप मैंने,
जेते किए, सकल वे मम नाश होंवे ॥

(३४)

होके प्रमाद वश आत्म स्वरूप भूल—
हिंसाः असत्य, परवस्तु परांगना को।
हा, सेय-सेय, बहु पाप सदा कमाया,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत नाश होंवे ॥

(३५)

मैं नित्य एक निजरूप स्वभाव सिद्ध,
हूं मुक्तरूप नित सर्व विकल्प से मैं।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(३६)

मै हूँ अमूर्तः वर्णादिक चार हीन,
बाधा विना दृग अनन्त सुज्ञानधारी।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(३७)

मै एक ही समय में निज ज्ञान द्वारा,
सम्पूर्ण ज्ञेय लखके रमता स्वरूप।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(३८)

एक स्वरूप अथवा बहुरूप मैं हूं,
ऊर्ध्व-स्वभाव-गतिरूप सदा रहूँ मैं।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(३९)

देह प्रमाण अविनाशि रहूँ सदा मैं।
विस्तार से बन सकूं पर लोक मान ॥
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा।
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४०)

मेरा पवित्र जब रूप सुव्यक्त होवे।
हो बोध-दृष्टि तब तो मम एक साथ ॥
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा।
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४१)

जो है विभावगुण मुक्त पवित्र रूपः
आनन्दमय, विमलमूर्ति, गुणों विराजेः
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४२)

जो शून्य भी अरु अशून्य स्वरूप भी है,
नो कर्म-कर्म विन, ज्ञान सुखद् स्वरूप ।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४३)

जो ज्ञान से सतत भिन्न अभिन्न रूप,
आनन्दरूप सुखिया जिसका स्वभाव;
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४४)

जो है अनित्य अरू नित्य प्रमेयरूप,
जो दीर्घ और लघुभेद-विहीन सत्य ।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
हैं एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४५)

जो हैं शुभाशुभ विभाव विहीन, सत्य,
शुद्ध स्वरूप जिसने निज पालिया है ।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४६)

भार्या, नपुन्सक नहीं, न नर-स्वरूप,
हां पुण्य पाप मय भी न कदापि मैं हूँ ।
सो लोक में शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥

(४७)

मेरा न कोई जग में, मैं ना किसी का,
ये वन्धु मित्र स्वजनादिक हैं न मेरे ।
ज्ञाता स्वरूप मम आतम है अकेला,
जो कर्म नाश करके शिव धाम पावे ॥

(४८)

मेरे रहें सतत ही निज देव स्वामी,
श्री जैनशास्त्र विच ध्यान रहे सदाही;
संन्यास से मरण हो जिन देव मेरा,
ये संपदायें जगमांहि मुझे सदा दें ॥

(४९)

सर्वज्ञ देव, जिनदेव सदा हमारे,
स्वामी रहे जगत में जबलों निवासा ।
होवें दयामय सदा परिणाम मेरे;
होवे तथा परम पावन जैनधर्म ॥

(५०)

जो पालते परम पावन धर्म को हैं,
वे तो दिगम्बर महा मुनि होंय मेरे।
जौलों न मोक्षपद प्राप्त अहो मुझे हो,
ये वस्तुएं भव-भवों विच प्राप्त होवें॥

(५१)

हा ! दुःख भोगत गया सुअन्नत काल,
पै जैन धर्म धन-प्राप्त किया न मैंने।
संन्यास में सुखद यत्न, न नाथ कीना,
हा ! व्यर्थही सकल काल गमा दिया है॥

(५२)

आराधना परम प्राप्त मुझे हुई हैं,
होऊं सयत्न उसके नित पालने में।
संसार की सकल सिद्धि मिले इसी से,
सम्पत्तियां प्रतिदिनां मिलती इसी से॥

(५३)

हां, काललब्धि अब तो मुझको मिली हैं।
सम्पत्ति पूर्ण अनयास मुझे मिली हैं;
रत्नत्रयी परम माल मुझे मिली है,
हां, क्यों न भक्तियुत धारण सो करूं मैं॥

(५४)

आलोचना सुखमयी सद्–भाव से जो,
रात्रि दिवा करत हैं, शिव सौख्यकारी।
जाते वही परम पावन–धाम को हैं,
पाते वही परम पावन मोक्ष को हैं ॥

लघु–आलुचन भावना

२७ (प० गिरिधर शर्मा कृत)

हैं दोष हैं गुण महेश मनुष्य हूं मैं।
है पुण्य पाप मय मानव देह मेरा ॥
जो नाथ दोष व्रत के मुझ से हुए हो।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥१॥
मैंने प्रभो स्वपर का हित ना विचारा।
अज्ञान मोह वश दुर्गण चित्त धारा ॥
पूरा किया न जगदीश्वर काम प्यारा।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥२॥
जिह्वा रही न वश में रस भी न छोडा।
मोड़ा न नेंक मुख दुर्दम वृत्तियों से ॥

नाना अनर्थ कर अर्थ समर्थ जोड़ा।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥३॥

हे नाथ ध्यान धरके तुमको न ध्याया।
स्वाध्याय में मन लगा न मजा उड़ाया॥
पाया प्रमोद विकथा कर नाथ मैंने।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥४॥

मैंने प्रमादवश दुर्गुण भी किए हैं।
गार्हस्थ्य कर्म यत्ना विन हो गये हैं॥
हा लोक के हृदय भी मुझ से दुखे हैं।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥५॥

आराधना मन लगा कर की न तेरी।
देती रही जगत में चल वृत्ति फेरी॥
ऐसी हुई प्रभु भयंकर भूल मेरी।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥६॥

बांधे प्रभू सुकृत के बहुधा नियाणे।
नाना प्रकार रस-हास्य विलास माणे॥
जाने न कर्म रिपु नां तुमको पिछाने।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥७॥

अध्यातम का रस पिया छक खूब मैंने।
संसार का हित किया भर पूर मैंने॥

आलोचना इस तरह करते वनीना।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥८॥
षट्काय जीव करुणा करते न हारा।
मारा प्रमाद मन में कषाय धारा॥
आलोचना इस तरह करते वनीना।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥९॥
संसार का हित महेश महा करै तू।
हैं ये प्रसिद्ध अमनस्क मुनिन्द्र है तू॥
तो भी तुझे न अपना मन दे सका मैं।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥१०॥
गंभीर ध्यान धरकै भगवान का जो।
आलोचना पढ करें निज शुद्धि देही॥
जो जाति रत्न वह कीर्ति अनन्य पावे।
सम्द्व्य सिद्धि वर पत्तन को बसावे ॥११॥

लघु सामायिक भावना

(२८ प० गिरिधर शर्मा कृत)

(१)

हो सत्वपै सखिपना मुद हो गुणी पै
माध्यस्थ भावमम होयविरोधियों पै

दुःखार्तपै अयि दया धन हो दया ही
हो नाथ कोमल सदा परिणाम मेरे ॥

(२)

धारु क्षमा सुमृदुता ऋजुता सदा मैं
त्यों सत्य शौच प्रिय संयम तप व त्याग
छोड़ं नहीं प्रभु अकिंचन ब्रह्मचर्य,
है रत्नराशि दशलक्षण धर्म मेरा

(३)

मैं देवपूजन करुं गुरु भक्ति साधुं
स्वाध्याय में रत सुसंयम आदरु मैं
धारुं प्रभो तप निरंतर दान दूं मैं
षटकर्म ये नितकरुं जबलौं गृही हूँ।

(४)

पाऊं महासुख प्रभो दुख वा उठाऊं
सोऊं पलंग पर, भू पर ही पड़ंवा
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा ॥

(५)

चाहे रहूं भवन में वन में रहूं या
प्रासाद में बस रहूं अथवा कुटी में

सोहे तथापि समता अतिउच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(६)

सुस्वाद व्यंजन सहस्त्र प्रकार के हों
आहर हो विरस, या वह भी मिलेना
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(७)

सिंहासन प्रचुररत्न जड़ा प्रभो हो
किंवा कुठोरतर पत्थर बैठने को
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(८)

चाहे चलूं मखमली पग पांवड़ो पै
या तै करुं विकट कंटक पूर्ण पंथा
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(९)

सैलून हो विविध मोटर गाड़ियां हो
हों बग्घियां, न पद भी कुछ साथ देंया

सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(१०)

मेरी करें भुवन के सब भूप सेवा
या मैं करुं भुवन के जन की सुसेवा,
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(११)

श्री देव देव बहु इष्ट वियोग होवे
किंवा अनिष्ट कर योग महान होवे,
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा।

(१२)

सामायिक स्तवन को जन जो पढ़ेंगे
संसार के सुख दुखो दधि को तिरेंगे
होंगे कभी न चल मानस धर्मधारी
श्री शप्रतापवश सिद्धि उन्हें वरेगी।

श्री अमितगति सूरि विरचित

आत्म-भावना

(हिन्दी पद्यानुवाद कर्त्ता)

(प० रामचरित उपाध्याय)

नित देव ! मेरी आतमा धारण करे इस नेम को,
मैत्री करे सब प्राणियों से, गुणि जनों से प्रेम को।
उन पर दया करती रहे जो दुःख ग्राह ग्रहीत हैं;
उनसे उदासीसी रहे जो धर्म के विपरीत हैं ॥१॥

करके कृपा कुछ शक्ति ऐसी दीजिए मुझमें प्रभो,
तलवार को ज्यों म्यान से करते विलग हैं हे विभो।
गत दोष आत्मा शक्तिशाली है मिली मम अंग से,
उसको विलग उस भांति करने के लिये ऋजु ढंग से ॥

हे नाथ ! मेरे चित्त में समता सदा भरपूर हो,
सम्पूर्ण ममता की कुमति मेरे हृदय से दूर हो।
वन में, भवन में, दुःख में, सुख में नहीं कुछ भेद हो,
अरि, मित्र में, मिलने–बिछड़ने में न हर्ष न खेद हो ॥

अतिशय घनी तम राशि को दीपक हटाते हैं यथा,
दोनों कमल पद आपके अज्ञान तम हरते तथा।
प्रतिबिम्बसम स्थिररूप वे मेरे हृदय में लीन हो,
मुनिनाथ ! कीलित तुल्य वे उन पर सदा आसीन हों ॥

यदि एक इन्द्रिय आदि देही घूमते फिरते मही,
जिन देव ! मेरी भूल से पीडित हुए होवें कहीं ।
टुकड़े हुये हों, मल गये हों, चोट खाये हों कभी,
तो नाथ ! वे दुष्टाचरण मेरे बने झूठे सभी ॥५॥

सन्मुक्ति सन्मार्ग से प्रतिकूल पथ मैंने लिया,
पंचेन्द्रियों चारों कषायों में स्वमन मैंने दिया ।
इस हेतु शुद्ध चरित्र का जो लोप मुझ से हो गया,
दुष्कर्म वह मिथ्यात्व को हो प्राप्त प्रभु ! करिये दया ॥

चारों कषायों से वचन, मन, काय से जो पाप है,
मुझसे हुआ हे नाथ ! वह कारण हुआ भव ताप है ।
अब मारता हूं मैं उसे आलोचना निन्दादि से,
ज्यों सकल विष को वैद्यवर है मारता मन्त्रादि से ॥७॥

जिनदेव ! शुद्ध चरित्र का मुझसे अतिक्रम जो हुआ,
अज्ञान और प्रमाद से व्रतका व्यतिक्रम जो हुआ ।
अतिचार और अनाचरण जो जो हुये मुझसे प्रभो;
सबकी मलिनता मेटने को प्रतिक्रम करता विभो ॥८॥

मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा,
औ शीलचर्या के विलंघन को व्यतिक्रम है कहा ।
हें नाथ ! विषयों में लपटने को कहा अतिचार है,
आसक्त अतिशय विषय में रहना महाऽनाचार है ॥९॥

यदि अर्थ, मात्रा, वाक्य में पद में पड़ी त्रुटि हों कहीं,
तो भूल से ही वह हुई, मैंने उसे जाना नहीं।
जिनदेव वाणी ! तो क्षमा उसको तुरत कर दीजिए,
मेरे हृदय में देवी ! केवल ज्ञान को भर दीजिए ॥१०॥

हे देवी ! तेरी वन्दना मैं कर रहा हूँ इसलिए,
चिन्तामणिप्रभ है सभी वरदान देने के लये।
परिणामशुद्धि, समाधि मुझ में बोधिका संचार हो,
हो प्राप्ति स्वात्मा की तथा शिवसौख्य की भव पार हो

मुनिनायकों के वृन्द जिसको स्मरण करते हैं सदा,
जिसका सभी नर अमरपति भी स्वतन करते हैं सदा।
सच्छास्त्र वेद पुराण जिसको सर्वदा हैं गा रहे,
वह देव का भी देव बस मेरे हृदय में आ रहे ॥१२॥

जो अन्तरहित सुबोध दर्शन और सौख्य स्वरुप है,
जो सब विकारों से रहित, जिससे अलग भव कूप है।
मिलता बिना न समाधि जो, परमात्म जिसका नाम है,
देवेश वह उर आ बसे मेरा खुला हृद्धाम है ॥१३॥

जो काट देता है जगत के दुःखनिर्मित जाल को,
जो देख लेता है जगत की भीतरी भी चाल को।
योगी जिसे हैं देख सकते, अन्तरात्मा जो स्वयम्,
देवेश वह मेरे हृदय पुर का निवासी हो स्वयम् ॥१४॥

कैवल्य के सन्मार्ग को दिखला रहा है जो हमें,
जो जनम के या मरण के पड़ता न दुख सन्दोह में ।
अशरीर जो त्रैलोक्यदर्शी दूर है कुकलंक से,
देवेश वह आकर लगे मेरे हृदय के अंक सें ॥१५॥

अपना लिया है निखिल तनुधारी निवहने ही जिसे,
रागादि दोष व्यूह भी छू तक नहीं सकता जिसे ।
ज्ञो ज्ञानमय है नित्य है, सर्वेन्द्रियों से हीन है,
जिनदेव देवेश्वर वही मेंरे हृदय में लीन है ॥१६॥

संसार की सब वस्तुओं में ज्ञान जिसका व्याप्त है,
जो कर्म बंधनहीन, बृद्ध, विशुद्ध, सिद्धि प्राप्त है ।
जो ध्यान करने से मिटा देता सकल कुविकार को,
देवेश वह शोभित करे मेरे हृदय आगार को ॥१७॥

तम संघ जैसे सूर्य किरणों को न छू सकता कहीं,
उस भांति कर्म कलंक दोषाकर जिसे छूता नहीं ।
जो है निरंजन वस्त्वपेक्षा, नित्य भी है, एक है,
उस आप्त प्रभु की शरण में हूँ प्राप्त जो कि अनेक है॥

यह दिवस नायक लोक का जिसमें कभी रहता नहीं,
त्रैलोक्य भासक ज्ञान रवि पर है वहां रहता सही ।
जो देव स्वात्मा में सदा स्थिर रुपता को प्राप्त है,
मैं हूं उसी की शरण में जो देववर है, आप्त है॥१९॥

अवलोकने पर ज्ञान में जिसके सकल संसार ही,
है स्पष्ट दिखता एक से है दूसरा मिलकर नहीं।
जो शुद्ध, शिव है, शान्त भी है, नित्यता को प्राप्त है,
उसकी शरण को प्राप्त हूँ, जो देववर है, आप्त है ॥

वृक्षावली जैसे अनल की लपट से रहती नहीं,
त्यों शोक, मन्मथ, मान को रहने दिया जिसने नहीं।
भय, मोह नींद, विषाद, चिन्ता भी न जिसको व्याप्त है,
उसकी शरण में हूँ गिरा, जो देववर है, आप्त है ॥

विधिवश शुभासन घास का या भूमिका बनता नहीं,
चौकी, शिलाको ही शुभासन मानती बुधता नहीं।
जिससे कषायारीन्द्रियां खटपट मचाती हैं नहीं,
आसन सुधी जन के लिए है आतमा निर्मल वही ॥

हे भद्र ! आसन, लोक पूजा, संघ की संगति तथा,
ये सब समाधी के न साधन वास्तविक में है प्रथा।
सम्पूर्ण बाहर वासना को इसलिए तू छोड़ दे,
अध्यात्म में तू हर घड़ी होकर निरत रति जोड दे ॥

जो बाहरी हैं वस्तुयें, वे हैं नहीं मेरी कहीं,
उस भांति हो सकता कहीं उनका कभी मैं भी नहीं।
यों समझ बाह्याडम्बरों को छोड़ निश्चय रुप से,
हे भद्र ! हो जा स्वस्थ तू बच जायगा भवकूप से ॥२४

निज को निजात्मा मध्य में ही सम्यगवलोकन करे,
तू दर्शन प्रकाशमय है, शुद्ध से भी है परे।
एकाग्र जिसका चित्त है, तू सत्य इसको मानना,
चाहे कहीं की हो, समाधि प्राप्ति उसको जानना ॥२५॥

मेरी अकेली आतमा परिवर्तनों से हीन है,
अतिशय विनिर्मल है सदा सद्‌ज्ञान में ही लीन है।
जो अन्य सब हैं वस्तुएं वे ऊपरी ही हैं सभी,
निज कर्म से उत्पन्न है अविनाशिता क्यों हो कभी॥

है एकता जब देह के भी साथ में जिसकी नहीं,
पुत्रादिकों के साथ उसका ऐक्य फिर क्यों हो कहीं।
जब अंग-भर से मनुज के चमडा अलग हो जायगा,
तो रोंगटों का छिद्रगण कैसे नहीं खो जायगा ॥२७॥

संसार रुपी गहन में है जीव बहु दुःख भोगता,
वह बाहरी सब वस्तुओं के साथ कर संयोगता।
यदि मुक्ति की है चाह तो फिर जीवगण! सुन लिजिए,
मन से, वचन से, काय से उसको अलग कर दीजिए

देही विकल्पित जाल को तू दूर कर दे शीघ्र ही,
संसार वन में डालने का मुख्य कारण है यही।
तू सर्वदा सबसे अलग निज आतमा को देखना,
परमातमा के तत्त्व में तू लीन निज को लेखना ॥२६॥

पहले समय में आतमा ने कर्म है जैसे किए,
वैसे शुभाशुभ फल यहां पर सांप्रतिक उसने लिए।
यदि दूसरे के कर्म का फल जीव को हो जाय तो,
हे जीवगण ! फिर सफलता निज कर्म की खोजाय तो॥

अपने उपार्जित कर्म फल को जीव पाते हैं सभी,
उसके सिवाय कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
ऐसा समझना चाहिए एकाग्र मन होकर सदा,
'दाता अपर है भोग का' इस बुद्धि को खोकर सदा॥

सबसे अलग परमातमा है, अमित गति से वन्द्य है,
हे जीवगण ! यह सर्वदा सब भांति ही अनवद्य है।
मन में उसी परमातमा को ध्यान में जो लायगा,
वह श्रेष्ठ लक्ष्मी के निकेतन मुक्ति पद को पायगा॥

पढकर इन द्वात्रिंश पद्य को,
लखता जो परमात्मवन्ध को।
वप अनन्यमन हो जाता है,
मोक्ष निकेतन को पाता है॥३२॥

लघु सामायिक

३० (प० दीपचन्दजी कृत)

दोहा

सकल निकल परमात्मा आगम गुरु निर्ग्रन्थ ।
बन्दु कारण मोक्ष के ज्यों पाऊं शिवपन्थ ॥१॥

द्रव्य–भाव–नोकर्म बिन सिद्ध स्वरूप विचार ।
सामायिक प्रारंभ करू, भव–भव नाशन हार ॥२॥

समता सब प्राणिन विषैं वैर न कोई संग ।
आशा तृष्णा त्याग के रचूं सु आतम रंग ॥३॥

राग द्वेष व मोह वश, जीव विराधे जेह ।
क्षमा भाव मम तन विषैं, ते पुनि क्षमा करेह ॥४॥

कृत कारित अनुमोदना वा मन वच तन कोय ।
दोष लगे त्रय रत्न में निन्दूं गर्हूं सोय ॥५॥

सहुं परिषह उपसर्ग वा, सुर नर पशु कृत आय ।
कार्य अहार कषाय को, त्यागूं मन वच काय ॥६॥

राग द्वेष भय शोक रति, सामायिक के काल ।
हर्ष विषादादिक सबहि तजूं त्रियोग सम्हाल ॥७॥

सुख दुःख जीवन मरण, रिपु-मित्र महल-उद्यान
त्यागूं इष्ट अनिष्टता, धारूं भाव समान ॥८॥

सद्दग ज्ञान चरित्र तप त्याग, सु संवर ध्यान ।
शरण अनन्य ममात्मा, इनके निश्चय जान ॥९॥
शुद्धातमा इक नित्य मम, ज्ञान दर्श सुख रूप ।
बहि द्रव्य संयोग वा सव विभाव दुख रूप ॥१०॥
परम्परा जिय दुःख सहे बाह्य वस्तु संयोग ।
सो संयोग सम्बन्ध को तजूं सम्हार त्रियोग ॥११॥
जिन सामायिक आदरी "दीप" अखंडित रूप ।
मुक्ति-रमा के कंथते नमों शुद्ध चिद्रूप ॥१२॥

सामायिक चालीसा

प० नैनसुखदासजी कृत काधला निवासी

दोहा

ॐ ह्वी अर्हं परम पद, इष्ट हृदय अवधार ।
अघ अपराध क्षमावणी, कहूं सामायिक सार ॥

चाल छंद

जिनलोक शिखरथिति कीनी, जगजालजलांजुलिदीनी ।
तिनको परणाम हमारो, मोहि जान दुःखी निस्तारो ।

गीता छंद

निस्तार अपनो जान के आचार्य पद वन्दन करुं ।
उवज्झाय साधू य शान्त चित चरणार विन्दन में परुं ॥

जे वस्तु तत्व विचार समता धार अणुव्रत आदरैं ।
पाले निरन्तर शील तिन ही त्रिकाल हम वन्दन करैं ।।

चाल छंद

जेते तिहुं लोक मंझारी, जिन मंदिर जग अघ हारी ।
कृतिम अरु जे अविनाशी, वन्दू काटो जग फांसी ।।

गीता छंद

काटो त्रिविध फांसी हमारी दुःख सागर में परो ।
नहीं कियो सुकृत नाथ में चिरकाल संकट ही भरो ।।
जो करे जैसी भरे तैती दोष किसकू दीजिये ।
करि आस तेरी शरणआयो दास लखि सुधि लीजिये ।

चाल छंद

हम निज अनुभूति न जानी, पर परणति में मतिठानी ।
भव बन्धन वेल वधाई, वीत्यो चिरकाल गुसाई ।।

गीता छंद

बीते अनन्तानन्त कल्प विकल्प ही में दिन गए ।
नहीं घटी संशय वढी तृष्णा किऐ बन्धन नित नऐ ।।
किस विध तिरे नैया हमारी पाप पत्थर से भरी ।
जन्मादि के जंजाल में प्रभू कर्म के वश में परी ।।३।।

चाल छंद

इन कर्मन सेती उवारो, देकर अवलम्ब निकारो ।
तुम समरथ हो जग त्राता, विन कारण बन्धु विख्याता ।।

गीता छंद

विख्यात यस तेरो जगत में भील से जग तिर गये।
तेरो प्रताप त्रिलोकपति, जिन नाथ नेमीश्वर भये॥
तिर गये शूकर सिह मर्कट, नवल पशु पंछी घने।
भये वृषभ गणाधिपति आदि, सकल जिनवर के कने॥४॥

चाल छंद

गजस्वान अरु भेका, अंजन आदिक जु अनेका।
इत्यादि अधम बहु त्यारे, पहुंचे शिवस्वर्ग मंझारे॥

गीता छंद

पहुंचे स्वर्ग अरु मुक्ति में दंडक चर्णदक अघ भरे।
जिन पांचसो मुनि मार घाणि डारि कर चूर्ण करे॥
महा वज्र पाप कलंक मंडित तिरगये दुःख द्वन्दते।
यह जान तेरी शरण लीनी काढ प्रभू जग फंद तें॥

चाल छंद

तुम वीतराग जग भूपा, सर्वज्ञ चिदानन्द रुपा।
समदर्शी नित्य तुम्हारे, घट घट की जानन हारे॥

गीता छंद

तुम आप जानो कर्म सबके कौन से विन्ती करूं।
मैं चोर तेरो कोन राखे, शरण किसकी आदरुं॥
तू मार वा निस्तार तेरी शरण आत्म सार है।
इस विकट संकट जाल में तुम्हीं से नाथ पुकार है॥६॥

चाल छंद

पूर्व भव पाप कमाये तृष्णावश जीव सताये।
तित सबतें अर्ज हमारी, अब करहु क्षमा सुखकारी ॥

गीता छंद

करिये क्षमा सुखदाय में अज्ञान वश हिंसा करी।
मिथ्या वचन कह दुःख दियो छल छिद्र कर लक्ष्मी हरी।
सेये कुशील कुकर्म कीने बढी तृष्णा नित नई।
लिपटो परिग्रह जाल में कर पाप अब दुर्गति लई ॥

चाल छंद

पण थावर हिंसा कीनी, खन पृथ्वी पीड़ा दीनी।
धरि अगन तपायो पानी, पावक दल मलि अज्ञानी ॥

गीता छंद

अज्ञान वस पावक प्रजाली पवन तरुवर संहरे।
चूल्हादि ऊखल मूसल ते वहु जीव जंगम पशु हरे॥
चाकीन तें तन पीस टारे ईर्या पथ सेती टरो।
या भांति जिन पर भई बाधा, सो क्षमा हम पर करो ॥८॥

चाल छंद

धरि क्रोध जिन्हे दीने, कर मान अनादर कीने।
धोखा दे प्राण दुखाये, कर लोभ प्रपंच भ्रमाये ॥

गीता छंद

प्रपंच करि जग में भ्रमावे छिमा मनमें ना धरी।
कटु वचन भाखे दगा कीनी वितर्थ वानी आदरी॥
तज शौच संजम तपकियो नहीं त्याग आकिंचन हरो।
शीलादितें तज पाप बांधे सो क्षमा हम पर करो॥६॥

चाल छंद

कृमि, कीडी भोरे सताये, समनश अमनस भरमाये।
दल मल अरु बांधे मारे, भाखे दुर्वचन अपारे॥

गीता, छंद

भाखे कटुक बच कान छेदे पूंछ नासा खंडियो।
अति भार रोप अनर्थ कीने दंत डंक विहिंडयो॥
धर्मीन पर उपसर्ग कीने तीर्थ पर पातिक हरे।
सब जीव करियो क्षमा तज कर शल्य हम पायन परे॥

अडिल्ल छंद

स्वर्ग नरक नर लोक विषै प्राणी जिते।
चारों गति में वर्तमान जित तित तिते॥
मैं तिनतें कर जोड अरज इतनी करूं।
करहुं छिमा अपराध भवो दधि से तरूं॥

गीता छंद

में तिरूं भव सागर दुखाकर जो कृपा इतनी करो।
अपराध काल अनादि के मम आज लोके परिहरो॥

मैं किये घोर अनर्थ जिन पर बिना कारण दुख दियो ।
जित होय तित ही क्षमा कराऊं धर्मको शरणो लियो ।।

अडिल्ल छंद

वीत्योकाल अनादि किये अघ भार ही ।
भ्रमों चौरासी लख योनि मंझार ही ।।
रही कौन सी ठौर जन्म जहां नहीं लियो ।
कौन जीव सो नाता जग में नहीं कियो ।।

गीता छंद

नहीं कियो नाता कौन सेती वैर किससे नहीं करो ।
चिरकाल धरि २ स्वांग नरक निगोद में गिर २ पस्यो
पशु योनि में बहु दुःख पाये तजहु शल्य दुखाकरी ।
भव भ्रमण छूटे कर्म टूटें, मिटैं पुग्दल चाकरी ।।१२।।

अडिल्ल छंद

जोलों कर्म कुबंध बंधो जग में फिरूं ।
पाणि पात्र अहार न जबलो मैं करुं ।।
जबलों चार कषाय हृदय से ना टरें ।
तबलों चारों शरण भावना हम वरें ।।

गीता छंद

हम वरे चारों शरण केरी भावना चित्त चावसों ।
दिन रैन श्वासोंच्छ्वास में अरहंत निकसो भाव सों ।।

जग भोग सम्पति मैं न चाहूँ नाथ अब ऐसी करू ।
सतोष में चित होय फिर भव भ्रमण के दिन आदरू ।

अडिल्ल छंद

तुम हो दीन दयालु वैद्य करुणापति '
मैं दुखिया ससार कर्म रोगी अति ॥
गठरी भी नहीं दामन सुकृत मैं कियो ।
तेरी शरण विसार मरयो अब मैं जियो ॥

गीता छंद

जीयो न मरयो रहो जग में भरी वेदन मैं घणी ।
किंह विध कहूं अपनी व्यथा चिरकाल जो मोपै बनी ॥
सुत मात दारा कोन चारा सगे सब देखत रहे ।
बिन पुन्य खाली हाथ नरक निगोद के सकट सहे ॥

अडिल्ल छंद

डारयो भाड मझार पकड सूली धरो ।
पेलो घाणि घालि पीस चूर्ण करो ॥
काठ्यो कठ कुंठार विदारयो तन सबे ।
प्यायों ताबों गाल बढी वेदन सबे ॥

गीता छंद

बढी वेदन किये छेदन फूक मुख कूचा दियो ।
कहे नारकी दुर्बचन पापी क्यों न तें सुकृत कियो ॥

विल्लाय पायन लौट हारयो किन्हु मेरी ना सुनी।
चिरकाल से भगवान ये सकट सहे त्रिभुवन धनी॥

अडिल्ल छंद

तुम सुमरत जगदीश छुडावो फदते।
चौरासी लख योनि तने दुख द्वंद ते॥
तुम सा दाता कौन तुम्ही जाग तात हो।
विन कारण जग बन्धु तुम्ही विख्यात हो॥

गीता छंद

विख्यात हो सर्वज्ञ सत्य अमोध वाणी उच्चरो।
वर्षाय धर्मामृत जगत के पाप आतप तुम हरो॥
सुनि २ तुम्हारे वैन पशु पंछी अनुव्रत आदरे।
गजसिंह मोर भजंग समता भाव धरि भव जल तिरें॥

अडिल्ल छंद

जाति विरोधी जीव मिले हित लायके।
करे निजारथ काल लब्धि बल पायके॥
ते मोहे संशय नाहि शरण तेरी लही।
लाजे तेरो नाम जो अब उरझी रही॥

गीता छंद

उरझी रही नैया हमारी शरण तेरी आयके।
तो करे कौन सहाय मेरी कर्म मच्छ हटाय के॥

तू पूर्ण ब्रह्म विवेक सागर धर्म लखि यह कीजिये ।
मैं रहूं चाकर सदा तेरो यहि वर मोहि दीजिये । ।१७।।

अडिल्ल छंद

इन्दु धर्म हुत नद सु सम्वत सार है ।
माघ शुक्ल दशमी गरुड़ा ग्रज सार है।।
भादो सप्तम् श्याम कांधला पुर वरो ।
विनवै नैना नद जगत मगल करो ।।

दोहा

यह अपराध विमोचनी—सामायिक गुण माल ।
जे नर पढें त्रिकाल ही, कटें कर्म जजाल ।।
नन्दो विरधो जगत में—अधिकारी भवि जीव ।
जिन्हे स्वपर हितकारिणी—उपजे सुमति सदीव ।।
बीत्योकाल अनादि ही—किये कर्म अघभार ।
चहूं गति सगरे हडियो—कियो न जप तप सार ।।
एक घड़ी आधी घड़ी—एक पलक छिन एक
जो सामायिक आदरें—छूटें पाप अनेक ।।

३२ (श्रीमद् योगीन्दुदेव विरचित)

योगसार (निजात्म-भावना)

[हिंदी-पद्यानुवाद]

(१, २)

विमल ध्यानमें लीन हो, कर्मकलंक खपाय।
हुए सिद्ध परमातमा, वंदूं वे जिनराय॥
चार घातिया क्षय करी, लह्यो अनन्त चतुष्ट।
तिन जिनवरके चरण नमि, कहूं काव्य मैं इष्ट॥

(३, ४)

इच्छे जो निज मुक्तता, भव भय से डर चित्त।
तिन भवि सम्बोधन निमित, दोहे रचुं इक चित्त।
जीव, काल संसार ये, कहे अनादि अनन्त।
जीव मोहसे है दुःखी, कभी न सुक्ख लहंत॥

(५, ६)

चारों गति दुख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्धातम चिंतन करो, शिवसुख लाभ उपाव॥
त्रिविध आतमा जानके, तज बहिरातम रूप।
बन तू अन्तर-आतमा, ध्या परमात्मस्वरूप॥

(७, ८)

मिथ्यामतिसे मोहि जन, जाने नहि परमात्म ।
भ्रमता वह संसार में, कहते "जिन" बहिरात्म ॥
परमातम को जानकर, त्याग करे परभाव ।
वह आतमा पंडित खरा, प्रगट लहे निज भाव ॥

(९, १०)

निर्मल, निकल, जिनेंद्र शिव, सिद्ध, विष्णु, बुद्ध, शांत ।
वह 'परमातम' जिन कहें, जानो हो निर्भ्रान्त ॥
देहादिक जो पर कहे, वह जाने निज रूप ।
हो 'बहिरातम' जिन कहें, भ्रमता वहु भवकूप ॥

(११, १२)

देहादिक जो पर कहें, वे निज रूप न होय ।
ऐसा निश्चय जानके, निज स्वरूप निज जोय ॥
निजको निज जाने सदा, तभी स्वयं शिव होय ।
निजको माने रूप-पर, तो भवभ्रमण न खोय ॥

(१३, १४)

विन इच्छा शुचि तप करे, जाने निजको आप ।
सत्वर पावे परमपद, तपे न फिर भव ताप ॥
बन्ध मोक्ष परिणाम से, कर जिन बचन प्रमाण ।
नियम सही यह जानके, भाव यथारथ जाण ॥

(१५, १६)

निजको जो नहि जानता, कारज पुण्य करेय।
भ्रमता पुनिः संसार में, शिव सुख कभी न लेय॥
निज दर्शन ही श्रेष्ठ है, अन्य न किंचित् मान।
हे योगी! शिव हेतु यह, निश्चय से तू जान॥

(१७, १८)

गुणस्थान अरु मार्गणा, कही दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतम ज्ञान वह, परमेष्ठी पदकार॥
गृह कारज करता भले, हेयाहेय सु ज्ञान।
ध्याता सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण॥

(१९, २०)

जो सुमरे, जो चिंतवे, जो ध्यावे मन शुद्ध।
ध्यान करन क्षण एक में, लहे परमपद शुद्ध॥
जिनवर अरु शुद्धात्म में, किंचत् भेद न जान।
मोक्ष हेतु हे योगिजन! निश्चय से यह मान॥

(२१, २२)

जिनवर ने आतम लखा, यह सिद्धान्तिक सार।
यही जानकर योगिजन! त्यागो मायाचार॥
जो परमातम मैं वही, जो मैं सो परमातम।
यही जानकर योगि! मत–कर विकल्पमय आतम॥

(२३, २४)

शुद्ध प्रदेशी पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण ।
वह आतम जानो सदा, शीघ्र लहो निर्वाण ॥
निश्चय लोकप्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार ।
ऐसा आतम अनुभवो, शीघ्र लहो भव पार ॥

(२५, २६)

लख चौरासी योनिमें, फिरियो काल अनन्त ।
पर समकित नहि पाइयो, यह जानो निर्भ्रान्त ॥
शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन, केवलज्ञान स्वभाव ।
यह आतम जानो सदा, होना जो शिवराव ॥

(२७, २८)

जबतक शुद्ध स्वरूपका, अनुभव करे न जीव ।
तबतक मोक्ष न लहत है, जहं तहं भ्रमत सदीव ॥
ध्यान योग्य त्रैलोक्य के, जिन आतम वह जान ।
निश्चयसे ऐसा कहा, इसमें भ्रांति न आन ॥

(२९, ३०)

जबतक जानो एक नहि, परमानन्द स्वभाव ।
व्रत, तप, सब मिथ्यात्वसे, शिव कारण न कहाव ॥
संयम व्रत जो आचरे, शुद्धातम संयुक्त ।
जिनवर कहते जीव वह, शीघ्र होय भव मुक्त ॥

(३१, ३२)

जबतक जानो एक नहि, परमानन्द स्वभाव ।
व्रत, तप, संयमशील सब, मानों व्यर्थ उपाव ।
स्वर्ग मिलत है पुण्य से, पाप हि नर्क-निवास ।
उभय छोड़ भज आत्मको, तो पावे शिव-वास ॥

(३३, ३४)

व्रत, तप, संयम, शील जो, वे सब ही व्यवहार ।
शिव कारण इक जीव है, जो त्रिलोक का सार ॥
आतम भाव से आत्मको, जाने तज परभाव ।
जिनवर कहते जीव वह, अविचल शिवपुर पाव ॥

(३५, ३६)

जिन भाषित षट् द्रव्य जो, सप्त तत्व नव अर्थ ।
वे सब ही व्यवहार से, लख उपाय परमार्थ ॥
शेष अचेतन सर्व हैं, जीव सचेतन सार ॥
मुनिवर जिसको जानकर, शीघ्र होंय भवपार ॥

(३७, ३८)

जो शुद्धातम अनुभवे, छोड़ सकल व्यवहार ।
जिन प्रभु ऐसे कहत हैं, होय भवार्णव पार ॥
जड़ चेतन के भेदका, ज्ञान वही है ज्ञान ।
'हे योगी!' योगी कहें, 'मोक्ष' हेतु यह जान ॥

(३६, ४०)

योगी कहते जीव तू, जो चाहे शिव थान ।
केवलज्ञान स्वभावमय, आत्मतत्त्व पहचान ॥३६॥

को किसकी समता करे, सेवे पूजे कौन ?
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे किसी को कौन ।
कौन करे किस मित्रता, किसके साथ कलेश ।
जहं देखूं तहं जीव सब, शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानेश ॥

(४१, ४२)

सद्गुरु वचन प्रसाद से, आत्मदेव नहि जान ।
फिरता खोटे तीर्थ में, कपट खेल बहु ठान ॥
देव न मंदिर, तीर्थ में, श्रुतकेवलि आख्यान ।
तन मंदिर में देव जिन, यह निश्चय कर जान ॥

(४३, ४४)

तन मंदिर में देव जिन, जन देखें कहिं और ।
देख हंसी आवे मुझे, प्रभु भिक्षार्थ सुदौर ॥
देव न मंदिर तीर्थ में, देव न मूरति चित्र ।
तन मंदिर में देव जिन, समझ होय समचित्त ॥

(४५, ४६)

देव तीर्थ मंदिर बसे, लोग कहें सब एव ।
विरले ज्ञानी जानते, तन मंदिर में देव ॥

जरा मरण से डर अगर, तो कर धर्म सुजान ।
अजरामर पद प्राप्तिको, कर धर्मामृत पान ॥४६॥

(४७)

शास्त्र पढे, मठ में रहे शिरके लुंचे केश ।
वेप बनावे साधुका, धर्म न होवे लेश ॥

(४८, ४६)

रागद्वेप द्वय त्याग कर, निजमें करे निवास ।
जिनवर भाषित धर्म वह, हेतु मुक्तिपुर-वास ॥
मन न घटे आयुश घटे, घटे न इच्छा राग ।
आतम हित प्रगटे नही, तो कैसे भव-त्याग ॥

(५०, ५१)

ज्यों मन विषयों में रमे, त्यों जो आतम लीन ।
शीघ्र मिले निर्वाण पद, धरे न देह नवीन ॥
नर्कवास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर ।
करि शुद्धातम भावना, शीघ्र लहो भव तीर ॥

(५२, ५३)

जगके धंधोंमें फसा, करे न आतमज्ञान ।
इस कारण जगजीव यह, पावे नहि निर्वाण ॥
श्रुतपाठी भी मूढ़ हैं, जो निज तत्त्व अजान ।
इस कारण यह जीव बस, पावे नहि शिव थान ।

(५४, ५५)

मन-इन्द्रियसे दूर हो. क्या वहु पूछे बात ?
राग प्रसार निवार कर. सहजरूप—उत्पाद ॥
जिय पुद्गल दोनों पृथक्. भिन्न सकल व्यवहार ।
तज पुद्गल गह जीव तो. शीघ्र मिटे संसार ॥

(५६, ५७)

स्पष्ट न माने जीवको. जो नहि जाने जीव ।
छुटे नहीं संसार से. भ्रमता रहे सदीव ॥
रत्न—दीप, रवि, दुग्ध, दधि, घी, पत्थर अरु हेम ।
स्फटिक, रजत अरु अग्नि नहि. जीवहि जानो तेम ॥

(५८. ५६)

देहादिकको पर गिने. ज्यों सूना आकाश ।
तो पावे परब्रह्म झट. केवल करे प्रकाश ॥
ज्यों निर्मल आकाश है. त्यों निर्मल है जीव ।
जड़ लक्षण आकाश है. चेतन लक्षण जीव ॥

(६०. ६१)

ध्यान द्वार अन्तर विषे. देखे जो अशरीर ।
दुःखरूप जन्म हि टले. पिये न जननी क्षीर ॥
काय रहित चैतन्य तन. पुद्गल तन जड़ जान ।
मिथ्या मोह निवार कर. तन. भी निज मत मान ।

(६२, ६३)

निजसे निजको जानके, क्या फल प्राप्त न होय ?
प्रगटै केवल ज्ञान अरु, शाश्वत् सुक्ख विलोय ॥
परभावोंको त्याग मुनि, जाने निजसे आप ।
केवलज्ञान स्वरूप लहि, नाश करे भव ताप ॥

(६४, ६५)

धन्य अहो ! भगवंत बुध, जो त्यागे परभाव ।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव ॥
मुनिजन या कोई गृही, जो हो आतम लीन ।
शीघ्र मोक्षसुख वह लहे, कहते प्रभु स्वाधीन ॥

(६६, ६७)

विरला जाने तत्त्वको, विरला सुनता कान ।
विरला ध्यावे तत्त्वको, विरला धारे ध्यान ॥
मेरा यह परिवार नहिं, है सुख दुखकी खानि ।
ज्ञानी ऐसा जानकर, शीघ्र करे भव-हानि ॥

(६८, ६९)

इन्द्र फणीन्द्र नरेन्द्र भी, नहीं शरण दातार ।
शरण न मुनिवर जानकर, निजको देदे सार ॥
जन्म मरण एक हि करे, सुख दुख वेदे एक ।
नर्क गमन भी एकला, मोक्ष जाय बस एक ॥

(७०, ७१)

जीव अकेला तू सदा, तो तज सब परभाव ।
आतम ध्यावो ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाव ॥
पापरूप वस पाप है, यह जाने सब कोइ ।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहे बुद्धजन कोइ ॥

(७२, ७३)

बांधे बेड़ी लोह ज्यौं, त्यौं सोनेकी जान ।
जान शुभाशुभ दूर कर, यह ज्ञानी का ज्ञान ॥
जो तव मन निर्ग्रन्थ है, तो तू है निर्ग्रन्थ ।
जहं होवे निर्ग्रन्थता, तहं होवे शिव पन्थ ॥

(७४, ७५)

ज्यौं हि बीजमें वड़ प्रगट, वड़में बीज सुजान ।
त्यौं हि देहमें देव है, तीन लोक परधान ॥
जो जिन, वह मैं, हूँ वही, कर अनुभव स्वतंत्र ।
हे योगी ! शिवहेतु यह, अन्य न मंत्र न तंत्र ॥

(७६, ७७)

द्वय, त्रय, चार रु पांच छह, सात, पांच अरु चार ।
नव गुणयुत परमातमा कर तू यह निर्धार ॥
दो त्यागी, दो गुण सहित, जो आतमरस लीन ।
शीघ्र लहे निर्वाण पद, कहते कर्म विहीन ॥

(७८, ७६)

तीन रहित, त्रय गुण सहित. निजमें करे निवास ।
शाश्वत् सुख का पात्र वह, जिनवर करे प्रकाश ॥
संज्ञा चार कषाय बिन, संयुत गुण जे चार ।
जीव ! जान निज रूप यह, कर कर परम विचार ॥

(८०, ८१)

दश विरहित, दश से सहित, दश गुण से संयुक्त ।
निश्चय आतम जानना, कहते जिन भव-मुक्त ॥
आतमदर्शन ज्ञान हैं, आतम चारित जान ।
आतम संयम, शील, तप, आतम प्रत्याख्यान ॥

(८२, ८३)

जो जाने निज आत्मको, पर त्यागे निर्भ्रान्त ।
वही सत्य सन्यास है, कहते श्री जिननाथ ॥
रत्नत्रय युत जीव जो उत्तम तीर्थ स्वतंत्र ।
हे योगी ! शिवहेतु यह, अन्य न मंत्र न तंत्र ॥

(८४, ८५)

दर्शन जो 'निज देखना', ज्ञान जु 'विमल महान' ।
फिर फिर 'आतम भावना' सो चारित प्रमान ॥
जहं चेतन तहं सकल गुण, केवलि कहते एह ।
निश्चय से योगी ! अतः, शुद्धातम परखेह ॥

(८६, ८७)

एकाकी, इन्द्रिय रहित, योगत्रय करि शुद्ध ।
निज आतम को जानकर, शिवसुख लहो विशुद्ध ॥
बंध-मोक्ष के पक्ष से, निश्चय तू बंधाय ।
निज स्वरूप में जो रमे, मिले मोक्ष सुख आय ॥

(८८, ८९)

सम्यग्दृष्टि सु जीविका, दुर्गति-गमन न होय ।
कभी जाय तो दोष नहिं, पूर्व कर्म क्षय होय ॥
आत्मरूप में जो रमे, छोड़ सकल व्यवहार ।
सम्यग्दृष्टि जीव वह, त्वरित हो भव पार ॥

(९०, ९१)

जो सम्यक्त्व प्रधान बुध, वही त्रिलोक प्रधान ।
पावे केवलज्ञान झट, शाश्वत् सौख्य-निधान ॥
अजर अमर, बहु गुणनिधि, निज में सुस्थिर होय ।
कर्मबंध, वह नहि करे, पूर्वबद्ध क्षय होय ॥

(९२, ९३)

जल से ज्यों पंकज सदा, कभी नहीं हो लिप्त ।
त्यों न लिप्त हो कर्म से, आत्मरूप में रक्त ॥
शमसुख में जो लीन है, कर कर आत्माभ्यास ।
निश्चय से कर कर्म क्षय, लहे परमपद वास ॥

(९४, ९५)

पुरुषाकार पवित्र अति, देखो आतमराम ।
निर्मल तेजोमय तथा, अनन्त गुणगण धाम ॥
जो जाने शुद्धात्मको, अशुचि देह से भिन्न ।
सो ज्ञाता सब शास्त्र का, शाश्वत् सुक्ख अभिन्न ॥

(९६, ९७)

निज पर भेद अजान जन, जो न तजे परभाव ।
यद्यपि जाने शास्त्र सब, लहे न शिवपुर वास ॥
त्यागे कल्पना जाल सब, परम समाधि सुलीन ।
वेदे जो आनन्द को, जिन कहते स्वाधीन ॥

(९८, ९९)

जो पिंडस्थ पदस्थ अरु, रूपस्थ रूपातीत
जान सुध्यान जिनोक्त यह, देख मोक्ष की रीत ॥
सर्व जीव हैं ज्ञानमय, ऐसा जो समभाव ।
वह सामायिक जानना, भाषे जिनवर राव ॥

(१००, १०१)

राग-द्वेष द्वय त्याग के धारे समता भाव ।
वह सामायिक जानना, भाषे जिनवर राव ॥
हिंसादिक के त्याग से, आत्म-स्थिति कर जेह ।
वह दूजा चारित्र है, पंचम गतिकर तेह ॥

(१०२, १०३)

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि ।
वह परिहारविशुद्धि है, शीघ्र लहो शिवसिद्धि ॥
सूक्ष्म लोभ के त्याग से, जो सूक्ष्म परिणाम ।
गिन सूक्ष्म सांपराय वह, जो शाश्वत् सुखधाम ॥

(१०४, १०५)

आत्म ही अरहन्त है, सिद्ध इसी को जान ।
आचारज, उवझाय अरु, साधू निश्चय मान ॥
वह शिव, शंकर, विष्णु है, रुद्र, बुद्ध, विन मोह ।
ब्रह्मा, ईश्वर, जिन वही, सिद्ध, अनन्त अछोह ॥

(१०६, १०७)

ऐसे लक्षणयुक्त जो, परम विदेही देव ।
तनवासी इस जीव में, दीखे कुछ नहिं भेव ॥
हुए तथा जो होंयगे, होते जो भगवान ।
केवल आतम दर्शसे, निश्चय कर मन आन ॥

(१०८)

संसृत से भयभीत जो. 'योगीन्दु' मुनिराज ।
एकचित्त दोहे रचे, निज सम्बोधन काज ॥

(३३) स्व० श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत—

आत्मसिद्धि भावना

[हिन्दी पद्यानुवाद]

दोहा

(१, २)

निज-स्वरुप समझे विना, पाये दुःख अनन्त ।
समझाया वह पद नमूं, श्री सद्‌गुरू भगवन्त ॥
वर्तमान इस काल में, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारार्थ आत्मार्थिको, वरण्यो यहां अगोप[1] ॥

(३, ४)

कोई क्रिया[2]-जड़ हो रहा, शुष्क ज्ञान में कोय ।
माने मारग मोक्षका, करुणा उपजे जोय ॥
बाह्यक्रिया संलग्नता, आत्म विवेक न कोय ।
रोके है जो ज्ञानपथ, वही क्रिया जड़ होय ॥

(५)

"बन्ध-मोक्ष है कल्पना", कहते है जो कोय ।
मोह उदय उनके महा; तीव्र अज्ञानी सोय ॥

१–प्रत्यक्ष, २–आत्मज्ञान शून्य बाह्य क्रिया में प्रवृत्ति।

(६)

तप वैराग्यादिक सकल, सफल सहित निजज्ञान ।
केवल आतमज्ञानकी, प्रापति अर्थ निदान[3] ॥

(७, ८)

त्याग विराग न चित्तमें, होय न उसको ज्ञान ।
अटके त्याग विराग में, तो भूले निज-भान ॥
जहां जहां जो जो उचित; समझे वैसा सार ।
तहां तहां वह वह करे, आत्मार्थी मन धार ॥

(९,१०)

सेवे सद्गुरु चरण को, त्याग करे निज पक्ष ।
पावे वह परमार्थको, ले निज पदका लक्ष ॥
आत्मज्ञान, समदर्शिता, विजरे उदय प्रयोग[4] ।
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण जोग ॥

(११, १२)

नहि सद्गुरु सम [5]प्रकटमें; [6]अप्रकट जिन उपकार ।
ऐसा लक्ष्य हुये बिना, आय, न आत्म-विचार ॥
सद्गुरुके उपदेश बिन, नहि जनाय जिनरूप ।
समझे बिन है लाभ क्या, समझे हो जिनरूप ॥

३—कारण, ४—कर्मोदय अनुसार, ५—प्रत्यक्ष, ६—परोक्ष ।

(१३, १४)

आतमादि अस्तित्व के, हैं जु प्ररूपक शास्त्र ।
होय न सद्गुरु योग जो, तहं आधार सुपात्र ॥
अथवा सद्गुरु ने कहा, जो अवगाहन काज ।
वह वह नित्य विचारना, करि[7] आग्रह परित्याग ॥

(१५)

रोके जीव [8]स्वछन्दता; तो पावे वह मोक्ष ।
पाया जीव अनन्त इम, कहते जिन निर्दोष ॥

(१६, १७)

प्रकट सद्गुरु योगसे, स्वछंदता रुक जाय ।
अन्य उपायों से सदा, प्रायः दूनी थाय ॥
परित्यज हठ स्वच्छन्दता; वर्ते सद्गुरु लक्ष ।
समकित उसको यों कहा; कारण गिन प्रत्यक्ष ॥

(१८, १९)

मानादिक वैरी महा, नहीं स्वच्छन्द से जाय ।
जाने पर गुरु चरणमें, अल्प उपाय नशाय ॥
सद्गुरु के उपदेश से, पावे केवलज्ञान ।
गुरु रहे छद्मस्थ पर; चेला बने महान ॥

७-हठ, पक्ष, ८-इच्छानुसार प्रवृत्ति, उल्टी समझ ।

(२०–२१)

कहें मार्ग सुज्ञान का, वीतराग जिनराज ।
मूल हेतु इस मार्गका; समझे कोई सुभाग ॥
असद्गुरु निज विनय जो,–इच्छे, चाहे लाभ ।
महामोहनी कर्म से, डूबे भवजल आप ॥

(२२–२३)

होय मुमुक्षु[2] जीव जो, समझे सर्व विचार ।
होय मतार्थी[3] जीव जो, उल्टा ले निर्धार ॥
होय कदाग्रहि जीव जो, होय न आतम लक्ष ।
उसके लक्षण अब यहां, कहते हैं निष्पक्ष ॥

(२४, २५) मतार्थी लक्षण–

वाह्य त्याग पर ज्ञान नहिं, माने गुरुको सत्य ।
अथवा निज कुल धर्म से; सन्मानित गुरु तथ्य ॥
जो जिन देह[4] प्रमाणको, समवशरणादि सिद्धि ।
जिनस्वरूप समझे अगर, तो समझो[5] जड़बुद्धि ॥

(२६)

सद्गुरु के संयोग में, विमुख–दृष्टि कर मूढ़ ।
करे थापना कुगुरुकी. मानार्थी वह मूढ़ ॥

२–मोक्ष अभिलाषी, ३–एकांती, हठी, मूढ़, ४–माप ऊंचाई वगेरे, ५–मूढ़ ।

(२७)

देव आदि गति [6]भंगको, जो माने श्रुतज्ञान ।
माने निज मत वेष का, आग्रह मुक्ति निदान ॥

(२८-२९)

जानी नहि [7]निजवृत्ति को; वृथा करे व्रत-मान ।
ग्रहे नहीं परमार्थ को, चाहे लौकिक मान ॥
अथवा निश्चयनय ग्रहे, केवल शब्दों माहि ।
लोपे सद्व्यवहार को, साधन रहित रहाहि ॥

(३०-३१)

ज्ञान दशा पावे नहीं, करे न कोई उपाय ।
उसकी संगति जो करे, वह डूबे भव मांय ॥
ऐसे जीव अज्ञानमें-अटके मन हि काज ।
पावें नहीं परमार्थ को. हैं अपात्र- [8]सरताज ॥

(३२-३३)

नहि कषाय- [9]उपशांतता; नहि अन्तर-वैराग्य[10] ।
सरलपन न मध्यस्थता; यह मतार्थि दुर्भाग्य ॥
लक्षण कहे मतार्थिके; आग्रह मेटन काज ।
अबै कहूँ आत्मार्थिके. आत्म अर्थ सुख साज ॥

६-भेद प्रभेदादि, ७-दशा । ८-मूर्ख शिरोमणि, ९-प्रशम, १०-सवेग,

(३४–३५) आत्मार्थी लक्षण:—

आत्मज्ञान तंह मुनिपना: वह सच्चा गुरु होय।
बाकी कुलकुरु[४] कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय॥
साक्षात् सद्गुरु प्राप्तिको-गिने परम उपकार।
तीनों योग सम्हारिके; वर्ते आज्ञा धार॥

(३६–३७)

एक होय त्रयकाल में, परमारथ का पंथ।
जो प्रेरे परमार्थ को, वह व्यवहार कहंत॥
यह विचार कर चित्त में, ढूंढै सद्गुरु योग।
काम एक शुद्धात्मका, अन्य नही [५]मनरोग॥

(३८–३९)

है कषाय-उपशान्तता, मात्र मोक्ष अभिलाष।
जीवदया भवखेद[६] हैं, तहं आतम हित वास॥
दशा न ऐसी जब तलक, जीव लहै नहि जोग।
मोक्षमार्ग पावै नहीं, मिटै न अंतररोग[७]॥

(४०)

जब आवै ऐसी दशा, सद्गुरू बोध सुहाय।
बोध मांहि सुविचारणा, तब प्रगटै सुखदाय॥

४–बाप दादाओ के कुल मे माने जाने वाले गुरू; ५–इच्छा, ६–सवेग, ७-अज्ञान विकार।

(४१, ४२)

जहं प्रगटै सुविचारणा, तहं प्रगटै निज ज्ञान ।
आत्म ज्ञान से मोह क्षय, पावै पद निर्वाण ॥
उपजै जब सुविचारणा, मोक्ष मार्ग समझाय ।
गुरू शिष्य संवाद से, कहना षटपद मांहि ॥

(४३-४४) षट्पद कथन—

आत्मा है, वह नित्य है; है कर्त्ता निज कर्म ।
है भोक्ता अरु मोक्ष है, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥
षट् स्थानक संक्षेप में, षट् दर्शन भी बोह ।
परम अर्थ के बोधको, कहते ज्ञानी सोह ॥

(४५) शिष्य शंका—

नहीं दृष्टि में आय वह, नहीं दिखाता रूप ।
अन्य कोई अनुभव नहीं, अतः न जीव स्वरूप ॥

(४६. ४७)

या शरीर ही आतमा. अथवा इन्द्रिय प्राण ।
वृथा भिन्न हैं मानना, नाही भिन्न निशान ॥
आत्मा यदि जो होय तो, क्यों नहीं वह देखाय
देखाय हि वह होय तो, घट पट ज्यों देखाय ॥

(४८)

इसीलिये नही आत्मा, मिथ्या मोक्ष उपाय ।
यह शंका मनमें वसी; समझाओ सदुपाय ॥

(४६-५०) गुरू-समाधान—

भासे [1]देहाध्याससे, आत्मा देह समान ।
पर वे दोनों भिन्न हैं, लक्षण भिन्न वखान ॥
भासे देहाध्याससे, आत्मा देह समान ।
पर वे दोनों भिन्न है, जैसे [2]असि अरु म्यान ॥

(५१, ५२)

जो द्रष्टा है दृष्टिका; जो जाने है रूप ।
जो अवाध्य अनुभव रहे, वह है जीव स्वरूप ॥
हैं इन्द्रिय प्रत्येक को; निज निज विषयक ज्ञान ।
पंच [3]अक्षके विषयका, है आतम को भान ॥

(५३, ५४)

देह न जाने आत्मको, अक्ष और नहिं प्राण ।
आत्मा के अस्तित्व से, वे प्रवर्तते जान ॥
सर्व अवस्था के विषे, न्यारा सदा जनाय ।
प्रगटरूप चैतन्यमय, लक्षण जीव सदाय ॥

१-शरीर में आत्मबुद्धि, २-तलवार, ३-इन्द्रिय ।

(५५, ५६)

घट पट आदिक जानता, मानत अतः अवश्य ।
जाने जो, नहि मानता, यही ज्ञान का दृश्य !
तीव्र बुद्धि कृश देह में, स्थूल देह अति अल्प ।
देह होय जो आतमा, ऐसे हों न विकल्प ॥

(५७, ५८)

जड़ चेतन का भिन्न है, केवल प्रगट स्वभाव ।
एकपना पावे नहीं, तीन काल द्वय [४] भाव ॥
आतम की शंका करे, स्वयं आतमा आप ।
शंका का कर्ता बने, अचरज हैं बिन [५] माप ॥

(५६-६०) शिष्य-शंका—

आत्मका अस्तित्व तो, आप बताया सार ।
सम्भव है यह बात तो, अन्तर किये विचार ॥
शंका दूजी होय यह, अमर न आतम जोग ।
देह योग से उपजता, नाशे देह-वियोग ॥

(६१)

वस्तु अन्यथा है क्षणिक, क्षण क्षणमें पलटाय ।
यह अनुभवसे भी नहीं, आतम निव्य लखाय ॥

४–भिन्न स्वभाव, ५–अत्यधिक ।

(६२-६३) गुरु-समाधान-

देह मात्र संयोग हैं; अरु जड़ रूपी, दृश्य ।
चैतन की उत्पत्तिलय, किसके अनुभव वश्य ॥
जिनके अनुभव गम्य है, [1]उत्पति [2]लयका ज्ञान ।
वह उसके भिन्नत्व बिन, होय न ऐसा भान ॥

(६४, ६५)

दीखत जो संयोग सब, वे सब अनुभव गम्य ।
उपजे नहि संयोग से, आतम नित्य अगम्य ॥
"जड़से चेतन उपजता, चेतन से जड़ होय" ।
ऐसा अनुभव कोई को, नही कभी भी होय ॥

(६६, ६७)

नहीं किसी संयोग, से हो जिसका उत्पाद ।
नाश नहीं उसका कभी, इससे नित्य कहात ॥
क्रोधादि [3]तरतम्यता, सर्पादिक के होय ।
पूर्व जन्म संस्कार वहः जीव नित्यता सोय ॥

(६८)

आत्म, द्रव्यसे नित्य हैं; पर्यय से पलटाय ।
बालादिक वय तीन का; ज्ञान एकको थाय ॥

१-उत्पाद, २-व्यय विनाश, ३-तारतम्यता .

(६९, ७०)

क्षणिकपनेके ज्ञानको, जो जाने कहनार ।
कहने वाला क्षणिक नहि; कर अनुभव निर्धार ॥
नहीं किसी भी वस्तु का, होय सर्वथा नाश ।
चेतन का जो नाश तो, किसमें मिले ? तलाश

(७१-७२) शिष्य-शंका—

कर्ता जीव न कर्मका, कर्म हि कर्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव ही, कर्म जीव का धर्म ॥
आतम सदा असंग अरु, कर्ता प्रकृति सुबंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, इससे जीव अबंध ॥

(७३)

इससे मोक्ष उपायका, हेतु न कोई दिखाय ।
जीव न कर्ता कर्मका; होय अगर, नहि जाय ॥

(७४-७५) गुरु-समाधान—

होय न चेतन प्रेरणा, ग्रहे कौन फिर कर्म ?
जड़ स्वभाव नहीं प्रेरणा, देख [४]विचारी मर्म ॥
जो चेतन कर्ता नहीं, नहीं होय तो कर्म ।
इससे सहज स्वभाव नहि, नहीं जीवका धर्म ॥

४—निश्चय ।

(७६, ७७)

होय असंग जु सर्वथा, क्यों नहि भासे तोहि ?
है असंग परमार्थ से, जो निज देखे सोहि ॥
ईश्वर कर्ता है नहीं: ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
ईश्वर कर्ता जो गिने, ईश्वर दोष प्रभाव ॥

(७८)

चेतन जब निज रूपमें, कर्ता आप स्वभाव ।
वर्ते नहीं निज रूपमें, कर्ता कर्म प्रभाव ॥

(७९) शंका-शिष्य

जीव कर्म कर्ता कहो, पर भोक्ता नहि सोय ।
क्या समझे जड़कर्म यह, फल परिणामी[1] होय ।

(८०, ८१)

फल दाता ईश्वर गिने, सिद्ध होय भोक्तृत्व ।
इस प्रकार के कथनसे, लोप होय ईशत्व ॥
ईश्वर सिद्ध हुये बिना, जगत नियम नहि होय !
पुनः शुभाशुभ कर्मका, भोग्य स्थान नहि कोय ॥

(८२) गुरु-समाधान–

भाव[2] कर्म निज भ्रांतिसे, माने चेतनरूप ।
जीव वीर्यके वलनसे[3] ग्रहण करे जड़ धूप ।

१-उनका जीव को फल देने में परिणमन हो सकता है-वे फल दे सकते हैं, २-राग द्वेषादिको, ३-जड़रूप-द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि ।

(८३, ८४)

अमृत, विष समझे नहीं, खाय जीव; फल पाय ।
त्यों शुभाशुभ कर्मका; भोक्तापन अनुभाय ॥
एक रंक अरु एक नृप,–आदिक ये जो भेद ।
कारण विन नहि कार्य है, यही शुभाशुभ वेद ॥

(८५, ८६)

'फल–दाता ईश्वर' कहो ! उसका नहि कुछ काम ।
कर्मस्वभाव हि परिणमन, भोग[४] होय निष्काम[५] ॥
उन उन भोग्य विशेपका;ःकारण द्रव्य स्वभाव ।
गहन वात है शिष्य यह, यहं संक्षेप कहाय ॥

(८७–८८) शिष्य-शंका–

कर्ता भोक्ता जीव ही, पर उसका नहीं मोक्ष ।
बीता काल अनन्त पर, विद्यमान है दोष ॥
पुण्य करे फल भोगवे, देवादिक गति जाय ।
पाप करे नरकादि फल, मोक्ष कभी ना पाय ॥

(८९) गुरु-समाधान–

ज्योंहि शुभाशुभ कर्मफल, जाने सफल प्रमाण ।
त्योंहि निवारण सफलता[६]; अतः मोक्ष तू जान ॥

४–शुभाशुभ कर्म भोगे जाने के वाद, ५–नि.सत्व, ६ कर्मों की निवृति का उपाय करने के ।

(९०, ९१)

बीता काल अनन्त; कर—कर्म शुभाशुभ भाव ।
वही शुभाशुभ काटकर, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥
देहादिक संयोगका, अत्यंतिक जु वियोग[७] ।
सिद्ध मोक्ष शाश्वत सुपद, निज अनन्त सुख भोग ।

(९२, ९३) शिष्य—शंका—

होय कदाचित् मोक्ष—पद, नहि अवरोध उपाय ।
कर्म अनंता कालके, कैसे काटे जाय ॥
अथवा मत दर्शन बहुत, कहे उपाय अनेक ।
उनमें सच्चा कौन सा, निर्णयका न विवेक[१] ॥

(९४, ९५)

कोन जाति में मोक्ष हैं, कौन वेष में मोक्ष ?
इसका निश्चय नहि बने, बहुत भेद, यह दोष ॥
इससे निश्चय हैं यही, बने न मोक्ष उपाय ।
जीवादिकके ज्ञान से, लाभ न कुछ भी पाय ॥

(९६)

पांचों उत्तर से, हुआ, समाधान सर्वंग[२] ।
समझूं मोक्ष उपाय तो, महा लाभ सत्संग ॥

७—अत्यन्ताभाव । १—ज्ञान, २—सम्पूर्ण रीती से—परिपूर्ण,

(९७, ९८) गुरु-समाधान–

पांचों उत्तरसे हुई, आतम माहि प्रतीति।
होगी मोक्ष. उपायकी, सहज प्रतीत सु रीति॥
कर्म-भाव अज्ञान है, मोक्ष भाव निज-वास।
अन्धकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञान–प्रकाश॥

(९९, १००)

जो जो कारण बन्धके, वही बन्धके पन्थ।
वे कारण-नाशक दशा, मोक्ष पन्थ भव अन्त[3]॥
राग द्वेष अज्ञान ये, मुख्य कर्मकी गांठ।
होय दूर जिन योगसे, वही मोक्ष की बाट[4]॥

(१०१, १०२)

आतम [5]सत् [6]चैतन्यमय, रहित जु [7]सर्वाभास।
जिससे केवल प्राप्त हो, मोक्ष पन्थ सुख-रास॥
कर्म अनन्त प्रकार के, उनमें मुख्य जु आठ।
उनका राजा मोहनी, किमि नशाय, कहुं पाठ॥

(१०३)

कर्म मोहनी भेद दो, दर्शन; चारित नाम।
हने बोध रु विरागता, सत्य उपाय विराम॥

३-संसार का अन्त-मोक्ष, ४-मार्ग पथ, ५-अविनाशी-अमर, ६-सब पदार्थों के प्रकाशित करने वाले स्वभाव रूप।

(१०४, १०५)

कर्म बन्ध क्रोधादिसे, हने क्षमादिक तेह ।
साक्षात् अनुभव सर्वका, इसमें क्या संदेह ॥
[7]त्यागी मत, दर्शनपना, आग्रह और विकल्प ।
कथित मार्ग जो साधना, जन्म उसाका अल्प ॥

(१०६, १०७)

षट् पदके षट् प्रश्न जो, पूछे सोच विचार ।
उन पद की सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥
जाति, वेषका भेद नहि; सत्य मार्ग जो होय ।
साधे सो शिव पद लहे, इसमें भेद न कोय ॥

(१०८, १०९)

हो कषाय उपशांतता, मात्र मोक्ष अभिलाष ।
भव से भय, अन्तर दया, वह कहिये [1]जिज्ञास ॥
उस जिज्ञासु प्राणिको, हो यदि सद्गुरु बोध ।
तो पावे सम्यक्त्वको, वर्ते अन्तर-शोध[2] ॥

(११०)

मत दर्शन आग्रह सु तज, वर्ते सद्गुरु-लक्ष ।
लहे शुद्ध सम्यक्त्वको, इसमें भेद न पक्ष ॥

७-सब विभावों से, ८-त्याग कर १-जिज्ञासु, २-आत्मान्वेषण

(१११, ११२)

होवे स्वयं स्वभाव का; अनुभव, ज्ञान, प्रतीत; ।
रमण करे निज भावमें, समकित दोष-अतीत ॥
वर्धमान सम्यक्त्वसे नाशे मिथ्याभ्यास[३] ।
उदय होय चारित्र का, वीतराग पद वास ॥

(११३, ११४)

केवल आत्मस्वभावका, वर्तें अविरल ज्ञान ।
कहिये केवलज्ञान वह, तन होते निर्वाण ॥
कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जागृत होत नशाय ।
त्यों हि अनादि विभाव भी, ज्ञान होत भग जाय ॥

(११५, ११६)

छूटे देहाध्यास जो, नहि कर्ता तू कर्म ।
नहि भोक्ता तू कर्म का, यही धर्म का मर्म ॥
इसी धर्म से मोक्ष है, तू है मोक्ष स्वरूप ।
ज्ञान दर्श भंडार तू, अव्याबाध स्वरूप ॥

(११७)

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य घन, स्वयं ज्योति, सुखधाम ।
कितना कहिये और कुछ, कर विचार वसु[४] जाम ॥

३–मिथ्या भ्रांति, ४–अठों पहर ।

निर्णय सब ज्ञानीनका. इसमें आन समाय।
इतना कहकर मोन गुरु. मगन समाधि सु मांय ॥

(११६-१२०) शिष्य बोध बीज प्राप्ति।

सद्गुरु के उपदेश से. प्राप्त अपूरब भान।
निज पद निजसे जानकर. दूर हुआ अज्ञान ॥
प्रगट हुआ निजरूप वह. शुद्ध चेतना रूप।
अजर. अमर. अविनाशि अरु. देहातीत स्वरूप ॥

(१२१-१२२)

कर्ता भोक्ता कर्म का. जब विभावमय जीव।
वृत्ति वही निजभाव में. तब स्वभावमय जीव ॥
अथवा निज परिणाम जो. शुद्ध चेतना रूप।
कर्ता. भोक्ता उनहिका. निर्विकल्प निज रूप ॥

(१२३-१२४)

मुक्ति कही निज शुद्धता. ज्यों पावे वह पन्थ।
समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ ॥
अहो. अहो! श्री सद्गुरु! करुणासिंधु अपार।
इस पामर[1] पर प्रभु! किया. अहो! महा उपकार ॥

१–अधम।

(१२५-१२६)

क्या गुरु—चरणोंमें धरूं; आतम से सब हीन ।
वह तो गुरु समझा दिया, शरण चरण की लीन ॥
ये देहादिक आज से,—रक्खूं प्रभु—आधीन ।
दास, दास मै दास हूँ, उन्हीं प्रभू का दीन ॥

(१२७)

षट् स्थानक समझाय के, भिन्न बतायो आप ।
जिमि असि पृथक हि म्यानसे, ये उपकार अमाप ॥

(१२८-१२९) उपसंहार—

छह दर्शन आ जात है, इन षट् स्थानक मांय ।
सोच अगर विस्तार से, संशय सब नश जाय ॥
आत्म—भ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान ।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषधि एक हि ध्यान ॥

(१३०, १३१)

जो चाहो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ ।
कर्मोदयका नाम ले, छेदो नहि आत्मार्थ ॥
निश्चय नयका कथन सुन, छोडो नहिं व्यवहार ।
निश्चय रख कर लक्ष्य में, साधन करना सार ॥

(१३२-१३३)

नय-निश्चय एकांत से, इसमें वर्णन नाहि ।
न एकांत व्यवहार से, दोनों साथ कहाहि ।।
गच्छ, पन्थ की कल्पना, वह नहि सद्व्यवहार ।
ज्ञान नहीं निज आत्म का; वह निश्चय निस्सार ।।

(१३४-१३५)

पहले जो ज्ञानी हुए, वर्तमान जो होय ।
जो भविष्य में होंयगे, मार्ग भेद नहि कोय ।।
सभी जीव है सिद्ध सम, जो समझे, वह होय ।
सद्गुरु आज्ञा, जिन दशा, निमित्त कारण सोय ।।

(१३६-१३७)

उपादान का नाम ले, वे जो तजें निमित्त ।
पावें नहि सिद्धत्वको, रहे भ्रांतिमय चित्त ।।
मुख से ज्ञान कथा कहे, छुटा न अन्तर-मोह ।
सदा अधम नर वे करें, केवल बुधजन-द्रोह ।।

(१३८)

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग ।
शिव-अभिलाषी जीव के,—उरमें सदा सु जाग ।।

(१३९, १४०)

मोह भावका चय जहां, अथवा हो उपशांत।
वही कही ज्ञानी दशा, बाकी सब ही भ्रांत ॥
झूठ[1] समान सकल जगत: अथवा स्वप्न समान।
वही कही ज्ञानी दशा, शेष वचन का जाल[2] ॥

(१४१, १४२)

पांच पदों को जानकर; वर्ते छट्ठे मांहि।
पावे सीधा मोक्ष पद, इसमें संशय नाहिं ॥
तन होते जिसकी दशा, रहे आत्ममयसार।
उस ज्ञानी के चरण में, वन्दन बारम्बार ॥

१-झूठ.-मिथ्या २-जाल -मायाचार

लेखक का प्रकाशन

हिन्दी

१. ज्ञानज्योति
२. जैन आचार विधि
३. पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण
४. सोनगढ का कलक
५. आध्यात्म पद
६. विशुद्धिसार सग्रह
७ अध्यात्मिक सामायिक
१८.सदाचरण
९. मानवता की मगल प्रभात
१० भक्तामर स्तोत्र
११. अध्यात्मिक जिन पूजा
१२. श्रावक जीवन ज्योति
१३. द्रव्य सग्रह
१४ भावना सग्रह
१५. भक्ति सग्रह
१६. महावीर जयन्ति
१७ Self-meditation

—

शीघ्र प्रकाशन होगा

१८. खन्डेलवालोत्पति
१९. देशविरति श्रावकाचार
२० जैन तत्त्व प्रवेशिका
२१. भेदविज्ञानसार

गुजराती

१. सामायिक
२. श्रावक व्रत विधान
३. सम्यक्त्व सुधा
४. प्रात स्मरण (प्रेस मे)
५ तत्त्वामृतसार (लिखाय मे)

—:आत्म कीर्तन:—

स्वतन्त्र निश्चल निष्काम,

ज्ञाता दृष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

वह हूँ जो हैं भगवान,

जो मैं हूँ वह है भगवान ।

तर यही ऊपरी जान,

वे विराग यह राग वितान ॥ १ ॥

स्वरूप है सिद्ध-समान,

अमित शक्ति सुख ज्ञान विधान ।

तु आश-वश खोया ज्ञान,

बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

ख दुःख दाता कोई न आन,

मोह राग ही दुःख की खान ।

ज को निज पर को पर जान,

फिर दुख का नहि लेश निदान ॥ ३ ॥

ता स्वयं जगत परिणाम,

मैं जगका करता क्या काम ।

हटो पर-कृत परिणाम,

ज्ञायक भाव लखूं अभिराम ॥ ४ ।